★

प्रकाशक : विद्या मन्दिर

चौक, कानपुर

संस्करण : चतुर्थ

नवम्बर, १९६० ।

मुद्रक : मेवालाल गुप्त

बम्बई प्रिंटिंग काटेज, बाँस-फाटक,

वाराणसी ।

मूल्य : १ रु० ७५ नये पैसे

स्व० डॉ० अमरनाथ झा की पुण्य स्मृति को

निवेदन

प्रस्तुत संकलन का सन्नियोजन उस उद्देश्य का प्रकाशक है, जो सौन्दर्य-प्रदर्शन के मूल में है। हिन्दी में प्रकाशित कहानियों की संख्या लाखों तक पहुँच चुकी है, इसमें संदेह नहीं। ऐसी स्थिति मे यह दावा करना कि मैने हिन्दी की समस्त कहानियाँ पढ़ी हैं, किसी व्यंग्यकार की कहानी का एक पात्र बनना होगा। फिर भी जहाँ तक मेरा अध्ययन है, मैं यह कह सकता हूँ कि जो कहानियाँ जीवन भर भुलाए न भूलेंगी उनमे इन कहानियों को गणना करता हूँ, इनके सहज सरल गुण-धर्म के कारण।

लेखकों का संक्षिप्त परिचय और प्रस्तुत कहानियों की संक्षिप्त साहित्यिक समीक्षा भी यहाँ दे दी गयी है। संकलन सभी दृष्टियों से पसन्द किया जायेगा, ऐसा मुझे विश्वास है।

उन लेखकों और प्रकाशकों का मैं हार्दिक कृतज्ञ हूँ, जिनकी कहानियो से यह संकलन सुशोभित है।

—संपादक

अनुक्रम

विषय		पृ० सं०
१. निवेदन		५
२. कहानी—उद्भव और विकास, कहानी की परिभाषा, कहानी के तत्त्व, कहानी और उपन्यास, कहानी की शक्ति, आधुनिक हिन्दी कहानियाँ	....	११-२७
१. श्री जयशंकर 'प्रसाद'—मधुआ	....	२६
२. श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—उसने कहा था	....	३६
३. श्री प्रेमचन्द—सुजान भगत	....	५५
४. श्री विश्वम्भरनाथ 'कौशिक'—रक्षा-बंधन	....	७१
५. श्री अन्नपूर्णानन्द—अकबरी लोटा	....	८३
६. श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—श्रीमती गजानन्द शास्त्रिणी	....	९३
७. श्री शिवपूजन सहाय—मुंडमाल	....	१०९
८. श्री पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'—देशभक्त	...	११७
९. श्री वृन्दावन लाल वर्मा—डाकू की ममता	....	१२५
१०. श्री बेढब बनारसी—मंगलग्रह की युवती से मुलाकात	....	१३३
११. श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी—मिठाईवाला	....	१४१
१२. श्री जैनेन्द्र कुमार—ईनाम	....	१५१
१३. श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—कवच की करामात	....	१५९
१४. श्री बलदेव प्रसाद मिश्र—कोमल	....	१७१

—:★:—

वि

शि

ष्ट

क

हा

नि

याँ

कहानी

मूल और शाखा

परस्पर भावाभिव्यक्ति की प्रणालियों में संकेताभिव्यक्ति अन्य कलाओं से प्राचीन ठहरेगी। अभिव्यक्तिसांकेतिक की मौखिक परम्परा उसी दिन आरम्भ हो गयी थी, जिस दिन भौतिक जगत मे मानव का पहला योग हुआ था। योग का यहाँ अर्थ सिद्धों और संतोंवाले 'योग' से नहीं, अपितु उस योग से है, जो दो हृदयों को एक सूत्र मे आबद्ध करता है। अर्थशास्त्री इस योग का मूल कारण भौतिक आवश्यकताओं को घोषित करेगा, भौतिक सत्ता पर विश्वास रखनेवाले प्राणी विज्ञान के क्रम-विकास को इसका आधार बतायेंगे, धर्मशास्त्री इसे नटराज की लीला बतायेंगे, ज्योतिषी इसे नक्षत्रों का प्रभाव कहेंगे, समाज-शास्त्री भी अपने पक्ष की बात कहेगा। आकर्षण के मूल मे सब की बातें उसी प्रकार विलीन हो प्रकाशवती होती है, जिस प्रकार सूर्य की किरणों में सात रंगों की आभा। आकर्षण प्रतिदान का जनक है। प्रतिदान समर्पण से सिंचित हो फूलता है। उसके मूल मे मनोभाव के फल लगते है। संयोग मनोभावों के अभिव्यक्ति का जनक होता है। प्रतीक उसके बीज हुआ करते है। प्रतीक स्थूल से निरंतर सूक्ष्म होते जाते है। यह विकास ही कहानो की मूर्ति स्वयं गढता गया है। इस सर्जन-क्रिया मे व्यक्ति के भीतर आकर्षण के प्रति उत्पन्न व्यामोह को प्रकट करने का स्वर रहता है। यह स्वर साहित्य के जिस रूप मे भी मुखरित होता है, वहाँ कहानी अपने-आप प्रकट हो जाती है। साहित्य की अभिव्यक्ति का माध्यम मान्य प्रतीकों की वाणी रही है। जब वाणी ने चिह्न-प्रतीकों मे अपने मौन को सस्वर किया, तभी से कहानी की परम्परा का आरम्भ माना जायगा। भाषा-शास्त्री इस परम्परा को १०,००० वर्ष से कम प्राचीन नहीं ठहराते; अतएव कहानी का जन्म भी इससे कम प्राचीन नही।

विश्व में कोई भी निरर्थक वस्तु अपना अस्तित्व स्थायी नहीं रख सकती, यदि उसकी उपयोगता स्थायी न हो; भले ही वह उपयोगिता मन से सम्बन्धित हो, एक व्यक्ति से सम्बन्धित हो, समष्टि से सम्बन्धित हो, लोक

से सम्बन्धित हो; पर अस्तित्व का स्थायित्व उपयोगिता के स्थायित्व पर जीवन-काल निर्मित करता है। कहानी की भी उपयोगिता मन से ले कर समाज के अभ्युदय और लोक-सिद्धि के लिए सदैव से रही है, अन्यथा वह भी विलीन हो गयी होती। मानव-जीवन जड़ नहीं है, अपितु उसके विकास की भागीरथी निरंतर प्रवाहमान है। अभी अवसान के महासागर से उसका सम्मिलन नहीं हुआ है। जब तक काल महासागर में लोक-जीवन विलीन नहीं हो जाता, तब तक बहाव की धारा निरंतर परिवर्तित होती रहेगी। धरती के अनुसार, धारा की गति तथा नदी का विस्तार होगा। यही बात साहित्य के किसी भी रूप के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। साहित्य हृदय का धर्म है, मन की वाणी है। धारण करने और कराने की उसकी क्षमता उसके जीवन के मूल मे हैं। जहाँ धारक-शक्ति होती है, वहाँ उपयोगिता स्वयंप्रभूत होती है। यह उपयोगिता विविध परिधान धारण कर युग के अनुसार प्रकट होती है। काल के अनुसार परिधानों का परिवर्तन निरंतर होता रहता है। यही बात कहानी के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है।

विश्व के प्राचीन साहित्य मे भारतीय साहित्य सर्वाधिक पुराना है। ऋग्वेद, उपनिषद्, सांख्य, पंचतन्त्र, नन्दीसूत्र और जातक—सभी मे गूढ जीवन-दर्शन को धारण कर दूसरों पर अभिव्यक्त करने के लिए, मानस-योग की स्थापना के लिये, संयोग की साधना के लिये, गूढ़तम सिद्धान्त सहज सरल ढंग से अभिव्यक्त किये है। बाद में ये अभिव्यक्तियाँ सत्य दृष्टान्त की कोटि मे प्रतिष्ठित हुई। उनके मूल में अभ्युदय की संयोग-कामना की सिद्ध चेतना है। ये आख्यान और आख्यायिकाएँ उद्देश्य-पूर्ति के लिए राजपथ प्रमाणित हुई थीं। यूनान, रोम, मिस्र, चीन सभी प्राचीन सांस्कृतिक देशों में ऐसी उद्देश्य प्रतिष्ठापक कहानियाँ बराबर मिलती है। जिन देशों में नये धर्मों की स्थापना हुई, वहाँ भी ऐसी कहानियाँ मिलती हैं। कहानियों का यह विकास-क्रम युग-जीवन के साथ परिवर्तित होता गया और आज कहानी युग के अनुरूप नया वेष धारण कर हमारे सम्मुख खड़ी है। यहाँ यह बात भूलने की नहीं है कि आज की कहानियाँ प्राचीन कहानियों से प्रायः सर्वथा भिन्न रूप में हैं।

शिल्प की दृष्टि से प्राचीन कहानियों मे कुतूहल एवं औत्सुक्य की रक्षा के लिए मानवेतर उपकरणों का सहारा लिया जाता था। आज की कहानी उन्हे बहुत पीछे छोड़ चुकी है। ऐसे उपकरणों से कहानी मे चमत्कार अवश्य आ जाता था, किन्तु वह जीवन से अत्यधिक दूर हो जाती थी। बात यह थी कि जीवन की प्रिय वस्तु होते हुए भी प्राचीन कथाकारों ने कहानी को जीवन से दूर ही रखा था। उनकी कहानी के मूल मे आदर्श-स्थापन की लालसा रहती थी। **'पंचतंत्र'** तथा **'हितोपदेश'** की पशु-पक्षियों की कहानी का प्रतिपाद्य भी कोई न कोई आदर्श ही होता था, किन्तु जीवन का प्रतिपाद्य तो सर्वदा आदर्श नहीं होता—भले ही वह आदर्श की ओर उन्मुख हो। इसी से कहानियों का आरम्भ प्राय. **'एक था राजा'** से और अन्त **'भगवान् ने जैसे उसके दिन फेरे, तैसे सबके दिन फिरें'** से होता था।

प्राचीन कहानियों का उद्देश्य जीवन का चित्र प्रस्तुत करना नही, वरन् चमत्कार उत्पन्न कर तथा जिज्ञासा जगा कर सम्पूर्ण मानव-समाज के कल्याण की सृष्टि करना था। आज कहानी यह उद्देश्य नही रहा। वह राजा और रानियों के जीवन तक ही नहीं रही, जन-साधारण के जीवन का चित्र भी कहानियों में व्याप्त हुआ। प्राचीन कहानियों मे अनेक उपकहानियाँ रहती थीं, आज की कहानियाँ ऐसी नहीं होती। आज वे पहले से अधिक मनोवैज्ञानिक तथा मानवीय है। जीवन के सम्पर्क मे ही वे जीवन पा कर जीवित हैं।

कहानी की परिभाषा

विभिन्न पश्चिमी विद्वानों ने कहानी के सम्बन्ध में अपनी भावना इस प्रकार व्यक्त की है :

"कहानी में घटनाओं के विववण और सक्रियता के साथ-साथ एक ऐसा आशातीत वेगवान् विकास दिखाया जाना चाहिये, जो हमारी जिज्ञासा-वृत्ति को स्थिर रखते हुए चरम विन्दु को स्पर्श कर एक सन्तोषमूलक पर्यवसति तक पहुँच जाय।"

—ह्यूवेल शेल

"समस्त रचना मे एक भी शब्द ऐसा नहीं होना चाहिये जिसकी प्रवृत्ति प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में पूर्व निश्चित बातों मे भिन्न हो।"

—पो

"किसी भी लघु कथात्मक अंश को जो सरलता से बीस मिनट में पढा जा सके, कहानी कहा जा सकता है।" **—वेल्स**

"कहानी मे सामान्य से सामान्य बातों का वर्णन हो सकता है, जैसे—सेमिनोविच ने किस प्रकार मेरिया से विवाह किया, केवल इतना ही।"

—चेखव

"कहानी एक घुडदौड के समान होती है। जिस प्रकार दौड़ का आदि और अन्त विशेष महत्त्व का होता है, उसी प्रकार छोटी कहानी मे भी केवल यह जानना अपेक्षित होता है कि वह कहाँ से आरम्भ हुई और कहाँ पर समाप्त।"

—एलरी

विभिन्न शिल्पियों द्वारा की गई ये परिव्याख्याएं अपूर्ण हैं। वास्तव मे कहानी की परिभाषा करना सहज नही है। परिभाषा उस वस्तु की की जा सकती है जिस का विकास रुक गया हो। तो भी **गद्य में एकान्वित प्रभाववाली कथात्मक भावाभिव्यक्ति को कहानी मानना अनुचित न होगा, भले ही अभिव्यक्ति संकेतात्मक, भावात्मक, चरित्रात्मक अथवा प्रतीकात्मक हो।**

कहानी के तत्त्व

कहानी के शरीर-गठन में कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथनोपकथन, देश-काल, भाषा शैली और उद्देश्य विभिन्न अंग के रूप मे स्मरण किये जाते है; पर यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक कहानी मे सभी तत्त्व एक साथ वर्तमान रहें। इन तथ्यो में भाषा और कथावस्तु मात्र अनिवार्य है। ये दोनों प्रत्येक प्रकार की कहानी मे मिलेंगे ही। शेष तत्वों का संतुलित योग कहानी को श्रेष्ठ बनाने मे सहायक होता है। कभी-कभी तत्व विशेष की आकर्षक अभिव्यक्ति कहानी मे उसी प्रकार आकर्षण उत्पन्न कर देती है, जिस प्रकार अंग विशेष का सौन्दर्य-प्रदर्शन। पूर्ण सौन्दर्य-प्रतिष्ठा के लिए संतुलित अंग-सौन्दर्य की समवेत आभापूर्ण रचना आवश्यक है, यह बात

यहाँ भी स्मरणीय है। कहानी के इन तत्वों पर अब अलग-अलग विचार करना अप्रासंगिक न होगा।

कथा-वस्तु निम्नलिखित भागों में विभक्त की जा सकती है—

(१) शीर्षक,

(२) प्रस्तावना,

(३) मुख्यांश,

(४) चरम विन्दु, और

(५) अन्त।

शीर्षकवाली कहानियाँ लोग सामान्यतः लिखते है, किन्तु ऐसी भी कहानियाँ दीख पडती है जिनमे लोग शीर्षक नहीं लगाते। बिना शीर्षक की कहानियाँ लोगों के भीतर कथा के प्रति जहाँ कुतूहलजन्य गोप्य सम्बन्ध स्थापित करने मे सहायक होती है, वहीं वे इस बात का भी प्रमाण हैं कि लेखक पाठक को अपनी शिल्प-क्षमता का ज्ञान नहीं होने देना चाहता। शीर्षक उसी प्रकार का कार्य करते है जिस प्रकार का कार्य परिचय-पट करते हैं। कहानी का शीर्षक कुतूहल जाग्रत करनेवाला होना चाहिए तथा कथावस्तु से उसका संयोग भी होना चाहिये। यह संयोग शीर्षक की श्रेष्ठता का परिचायक है, यदि जिज्ञासा भी जगा सके।

कहानी का आरम्भ जिस भी प्रणाली पर हो वह चुम्बक की तरह अपनी ओर खींचनेवाला होना चाहिये। लेखक की बहुत बड़ी सफलता आरम्भ पर निर्भर करती है।

ज्यों-ज्यों कहानी का विकास पाठक के सामने आता जाय, त्यों-त्यों कहानी से पाठक तादात्म्य स्थापित करता जाय—यह कहानी की बहुत बड़ी विशेषता है। तादात्म्य स्थापन-क्रिया के लिए देश-काल और वार्तालाप का गठन ऐसा होना चाहिये कि प्रस्तुत कथानक को पाठक उसी प्रकार सत्य मान बैठे जिस प्रकार छोटा बच्चा नानी की कहानियों को मान लेता है। यहाँ भाषा और शैली की ध्वन्यात्मक अवतारणा और प्रभावोत्पादक शैली की आवश्यकता पड़ती है। देश-काल तथा चरित्र के सन्तुलित प्रभाव की तादात्म्यमूलक वास्तविक प्रतिष्ठा

कहानी को श्रेष्ठ बनाने मे सहायक होती है, साथ ही कथनोपथन की सहज जीवन प्रतिष्ठित अभिव्यक्ति की भी आवश्यकता होती है।

मुख्यांश के बाद कहानी एकाएक मोड लेती है और एकान्वित प्रभाव उत्पन्न करने की दिशा को उन्मुख होती है। यहाँ पर मर्मांत की व्याख्या जितनी प्रभावशाली हो सकेगी, पाठक उतना ही अधिक प्रभावित होगा। उसकी छाप की स्याही से ही पाठक का मन रंग पाता है। यह रंजनवृत्ति जितनी ही जीवन्त होगी, कहानी का प्रभाव उतना ही व्यापक होगा।

वास्तव मे कथा-शरीर-शिल्प-गठन मे अपेक्षित सन्तुलित अंग-रचना ही कहानी की श्रेष्ठता का बाह्य रूप प्रतिष्ठित करती है।

कहानी के प्रकार

कहानियों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। कोई इनका वर्गीकरण भावानुसार करता है, कोई चरित्र के अनुसार, कोई उद्देश्य के अनुसार, कोई परिणाम के अनुसार, कोई रस के अनुसार, कोई चित्र और चरित्र के अनुसार तथा कोई घटना या प्रतीक के अनुसार। शैली के अनुसार भी कहानियों का वर्गीकरण लोग करते है यदि इन सभी वर्गीकरणों की सूची बनायी जाये तो बहुत लम्बी विस्तृत अनावश्यक सूची तैयार हो जायेगी, जैसे—कथा-प्रधान कहानियाँ, चरित्र-प्रधान कहानियाँ, घटना-प्रधान कहानियाँ, कार्य-प्रधान कहानियाँ, वातावरण-प्रधान कहानियाँ, प्रभाव-प्रधान कहानियाँ, हास्य कहानियाँ, ऐतिहासिक कहानियाँ, प्रकृतवादी कहानियाँ, प्रतीकवादी कहानियाँ, वैज्ञानिक कहानियाँ, यथार्थवादी कहानियाँ, आदर्शवादी कहानियाँ, औत्सुक्य-जनक कहानियाँ, जासूसी कहानियाँ, मनोवैज्ञानिक कहानियाँ, बाल-कहानियाँ, राजनीतिक कहानियाँ, वर्गवादी कहानियाँ, अपराध की कहानियाँ, प्रेम कहानियाँ, डायरी कहानियाँ, धार्मिक कहानियाँ, पुरातत्व की कहानियाँ, संवादात्मक कहानियाँ, पौराणिक कहानियाँ, आदि-आदि। वर्गों और उपवर्गों की संख्या और भी विस्तृत की जा सकती है। पर ऐसा करना उचित नहीं। कहानियाँ मूलतः दो वर्गो मे बाँटी जानी चाहिएँ और वे वर्ग हैं :

(१) उद्देश्य मूलक कहानियाँ
(२) भावना मूलक कहानियाँ

जब किसी उद्देश्य विशेष की प्रतिष्ठा के लिए कहानी की रचना की जाती है तो कथानक का समस्त ढाँचा उद्देश्य की प्रतिष्ठा की सिद्धि के लिये निर्मित होता है। ऐसी कहानियाँ ज्ञान, धर्म, राजनीति, संस्कार, मनोरंजन, समाचार-पत्र की आवश्यकता, पैसा-प्राप्ति आदि किसी भी उद्देश्य की पूर्ति के लिए लिखी जा सकती हैं। विषय और उद्देश्य के अनुसार कहानी का ढाँचा लेखक स्वयं गढ़ लेता है।

भावनामूलक कहानियाँ मूलतः उन भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए लिखी जाती है, जो भावनाएँ लेखक पर ऐसा प्रभाव डाल देती हैं जिनका उच्छ्वास गीतों की भाँति फूट पड़ता है तथा मर्म के उस चित्र और चरित्र से पाठक को परिचित कराये बिना लेखक को संतोष नहीं होता।

कहानी और उपन्यास

कहानी के तत्वों पर विचार करने से पता चलता है कि कहानी तथा उपन्यास के तत्व करीब-करीब एक-से हैं; किन्तु कला और शिल्प-रचना की दृष्टि से इनमें बड़ा अन्तर है। उपन्यास में प्रधान वस्तु कथानक है। कथानक की सुनिश्चित योजना उपन्यासकार के कौशल का द्योतक होता है। कहानी में कथानक की ऐसी योजना नहीं होती। कहानी का ध्येय तो किसी चरित्र का विशेष अंग या विशेष वातावरण प्रस्तुत करना होता है। वह हमारा रागत्मक सम्बन्ध ही चरित्र के एक अंग और विशेष वातावरण से कराना चाहती है, इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि कहानी में विस्तृत कथानक हो ही। चरित्र के अभाव में कहानी एक सीमा तक कहानी नहीं रह सकती, पर कथानक के अभाव से उस पर कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ता।

उपन्यास में जीवन की अनेकरूपता कथा के सम्पर्क-विकास के लिए आती है, किन्तु कहानी में ऐसी अनेकरूपता का होना असम्भव है। उसमें तो एक प्रभावान्विति होती है। इसलिए कहानी मे उपन्यास की अपेक्षा एकान्वयता अधिक होती है।

उपन्यास के पात्रों में कहानी के पात्रों से अधिक सजीवता होती है, क्योंकि पात्र के जीवन के प्रत्येक पहलू से पाठक परिचित हो जाता है।

कल्पना की सृष्टि का वह खिलौना पाठक को अपने संसार का प्राणी मालूम होने लगता है; कहानी में चरित्र के ऐसे विकास का अवसर ही नहीं होता।

कहानी के सभी तत्वों—कथानक, शैली, चरित्र-चित्रण तथा वातावरण का सामूहिक विकास कहानी में नहीं होता। किसी एक ही की प्रधानता रहती है, किन्तु उपन्यास में इन सभी तत्वों की परिव्याप्ति आवश्यक है।

कहानी में उपन्यास जैसी अनेकरूपता तथा प्रासंगिक कथाएँ नही होतीं। कहानी यदि जीवन के एक पहलू की झाँकी है, तो उपन्यास पूरे जीवन को प्रभावित करनेवाला सम्पादित संचयन है।

अतएव शैली, ध्येय, कौशल और कला की दृष्टि से उपन्यास कहानी से सर्वथा भिन्न है।

कहानी की शक्ति

यह ठीक है कि कहानी में अनेकरूपता नहीं होती, किन्तु वह अपनी एकरूपता में ही हमारे निकट आ जाती है और अपनी संक्षिप्तता तथा प्रभावोत्पादकता के कारण ही शीघ्र हमें आकृष्ट करती है। किसी भी चित्र का आकर्षण उनके दृश्य-चयन में तो है ही, साथ ही साथ तूलिका की उस जीवन्त अभिव्यक्ति में भी है जो उसे सजीव करती है। अभिव्यक्ति जितनी ही अधिक संक्षिप्त होगी, तूलिका को उतनी ही अधिक सूक्ष्म रेखाओं द्वारा प्रभाव की दृष्टि से उतनी ही व्यापक प्रतिष्ठा करने के लिए प्रयत्नशील होना होगा। गतिमयता के साथ तादात्म्य स्थापना उसके गुण-धर्म का सहज फल होगा। संक्षिप्तता के साथ कला की तीव्रता कहानी की शक्ति है। जितनी ही अधिक क्षमता कहानी में रागात्मक सम्बन्ध स्थापन की होगी, कहानी उतनी ही सूक्ष्म होगी। सम्बन्ध-संस्थापन की यह शक्ति कहानी की शक्ति है।

आधुनिक हिन्दी कहानियाँ

यद्यपि भारतेन्दु-युग से आधुनिक गद्य साहित्य का विकास होता है, तो भी आधुनिक ढंग की कहानियाँ भारतेन्दु-युग में नहीं लिखी गयीं, आख्यायिकाएँ अवश्य लिखी गयीं। अन्य भाषा-भाषी लेखक अंग्रेजी के सम्पर्क

में आ चुके थे, विशेष कर बंगलावाले। अनुवाद तथा मौलिक रचनाएँ वहाँ लिखी जा रही थीं। हिन्दी में गिरजाकुमार घोष, लाला पार्वतीनन्दन तथा पूर्ण-चन्द्र की स्त्री 'बंग महिला' ने बंगला से कुछ अनुवाद किए। 'बंग महिला' ने मौलिक कहानियाँ भी लिखने का प्रयत्न किया, किन्तु वे बंगला की कहानियो के प्रभाव से अछूती नहीं रहीं। तत्कालीन मौलिक कहानियों के विकास की अनुसूची—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नीचे लिखे ढंग से दी है :

इन्दुमती—किशोरीलाल गोस्वामी (सन् १६००); **गुलबहार**—किशोरीलाल गोस्वामी (सन् १६०२); **प्लेग की चुड़ैल**—मास्टर भगवान् दास मिर्जापुरी (सन् १६०२); **ग्यारह वर्ष का समय**—रामचन्द्र शुक्ल (सन् १६०३); **पंडित और पंडितानी**—गिरिजादत्त वाजपेयी (सन् १६०३); **दुलाईवाली**—बंग महिला (सन् १६०७)।

इन्हीं दिनों सर्वश्री विद्यानाथ शर्मा; तथा मैथिलीशरण गुप्त के क्रमशः **'विद्याबहार', 'निन्यानवे का फेर'** उपदेशात्मक अख्यान प्रकाशित हुए। माधवप्रसाद मिश्र आख्यायिकाएँ ही लिखते रहे। विश्वम्भरनाथ जिज्जा तथा वृन्दावनलाल वर्मा की कहानियाँ भी इसी समय छपी; पर इन सभी कहानियो मे साहित्य और कला की दृष्टि से कोई ऐसी अभिनव बात नहीं थी, जिनके कारण इन का विशेष महत्व हो, अपितु इन्हें प्रयोगकालीन रचना ही मानना श्रेयस्कर होगा। **'दुलाईवाली'** जीवन की सामान्य अभिव्यक्ति के कारण हिन्दी की अत्यन्त महत्वपूर्ण कहानी है। इस के पश्चात् तो हिन्दी मे कहानियों की एक झड़ी ही लग गयी। इन कहानियों का महत्व क्रम-विकास कीं दृष्टि से केवल ऐतिहासिक मात्र ही समझना चाहिए।

कहानियों का प्रारम्भिक विकास दिखाया जा चुका है। प्रारम्भ मे लिखी गयी वे कहानियाँ अन्य भाषाओं, विशेष कर बंगला के प्रभाव का परिणाम थीं। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया यह प्रभाव कम होता गया और मौलिक रचना-विकास हिन्दी मे होने लगा।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में श्री जयशंकर 'प्रसाद' की स्थिति नागरी-प्रचारिणी-सभा जैसी संस्थाएँ भी सर्वश्रेष्ठ मानती है; और वास्तव में बात भी यही है। सभी क्षेत्रों में न केवल साहित्यिक-अनुष्ठान के सिद्ध साधक

के रूप में वे आगे आये, अपितु बाद मे भी उन जैसा मेधावी व्यक्तित्व नहीं दीख पड़ रहा है। प्रसादजी की यौवनमयी प्रतिभा अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल हो रही थी। उन्ही की प्रेरणा के परिणामस्वरूप, उन के भांजे स्व० अम्बिका प्रसाद गुप्त ने सन् १९०९ मे 'इन्दु' नामक मासिक पत्रिका निकाली। इसी के द्वारा कहानी के क्षेत्र में नये उत्थान की सूचना हिन्दी-जगत् को मिली। १९११ ई० मे सर्व प्रथम 'प्रसाद' की पहली कहानी 'ग्राम' का प्रकाशन, नयी ढंग की कहानियों का आदि-स्रोत माना जाता है। इस पत्रिका मे उन की चार और कहानियाँ इसी वर्ष प्रकाशित हुई। ये पाँचों कहानियाँ 'छाया' नामक संग्रह में दूसरे वर्ष ही प्रकाशित हो गयी। हिन्दी के प्रायः सभी प्रारम्भिक अच्छे कहानीकारों की रचनाएँ भी इसी समय से प्रकाश में आने लगीं। उनकी तालिका अन्यत्र प्रस्तुत की गई है।

इस उत्थान के प्रमुख लेखक १९२५ तक इस क्षेत्र मे आ चुके थे। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद लिखी गई कहानियाँ अत्यन्त प्रौढ़ लगती हैं। प्रारम्भ के समय भी लिखीं गयी कुछ कहानियाँ समय से बहुत आगे हैं। इन कहानियों में 'उसने कहा था' आज भी हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से एक है। इन कहानियों के गुण-धर्म का विवेचन करने पर प्रायः सभी कहानीकार चार वर्गों में आ जायेंगे। प्राचीन आलोचक इसे कहानी के स्कूलों में विभाजित करते हैं। यदि स्कूलों की शैली पर विभाजन किया जाय तो भी चार ही स्कूल ठहरते हैं। **प्रसाद, प्रेमचन्द, उग्र और अनुवाद स्कूल**। श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ ने ऐसा ही विभाजन सन् १९३१ में 'हंस' में एक लेख मे किया था, जो वैज्ञानिक विश्लेषण पद्धति पर आधृत है।

अन्तर्भावनाओं को भावनामूलक शैली मे, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठ पर उपस्थित करनेवाले कलाकार प्रसाद-स्कूल के अन्तर्गत आते है।

सामाजिक पृष्ठभूमि पर सदुद्देश्य रचना करनेवालोंके अन्तरगत प्रेमचन्द्र स्कूल की मान्यता स्थापित होती है। जहाँ तक इस स्कूल का प्रश्न है, सामाजिक पृष्ठभूमि पर सभी प्रकार की रचनाएँ सुधारवादी दृष्टि से लिखी गयीं।

तीसरा स्कूल, जो 'उग्र' के नाम से प्रतिष्ठित किया गया है, शैली और भाषा के चमत्कारवाले सामयिक चेतना से संबलित लेखकों का है।

'अनुवाद-स्कूल' नामकरण उन लेखकों की रचना के कारण रखना पड़ रहा है, जो विभिन्न भाषाओं से छाया या समूल अनुवाद हिन्दी में मौलिक रचना कह कर करते रहे हैं।

इस युग मे भावना-प्रधान कहानी लिखनेवालों में प्रसादजी जैसा कलाकार कोई नही हुआ। प्रसाद की प्रारम्भिक कहानियाँ उनके विकास के बीज-मन्त्र का संकेत करती हैं। बाद की उनकी रचनाएँ प्रौढ़ हैं। उन की प्रारम्भिक कहानियों पर शिल्प-दृष्टि से बंगला का प्रभाव है। प्रसाद ने ऐतिहासिक, प्रागैतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी पृष्ठभूमियाँ ली है; किन्तु सर्वत्र अन्तर के चित्रों का मूर्त्तरूप, हृदय पर प्रभाव डालनेवाली काव्यमय शैली मे उन्होंने प्रस्तुत किया। कहानी-कला की दृष्टि से वे एक महान् कलाकार के रूप में प्रकट हुए और सदैव उनकी कहानियाँ हिन्दी-संसार के लिए प्राणवान् साहित्य के रूप मे ग्रहण की जाती रहेगी। उन्होंने प्रारम्भ से अन्त तक कला की जिस तूलिका से हिन्दी कहानियों का सृजन किया, वह उन की अकेली और अपनी है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में **गुलेरीजी** की **'उसने कहा था'** कहानी एक बहुत बड़ी घटना के रूप में सदैव ग्रहण की जायगी। हिन्दी-कहानी-साहित्य की शैशावस्था मे जिस आदर्शोन्मुखी यथार्थ की प्रतिष्ठा उन्होंने अपनी इस कहानी मे की, उस की ऊँचाई आज भी हिन्दी की गिनी-चुनी कहानियों मे अपने स्थान पर श्रेष्ठ है। इस के पूर्व वे दो कहानियाँ और लिख चुके थे, पर वे कहानियाँ सामान्य कोटि की तो है ही, भद्दी और भोंड़ी भी है।

इस के पश्चात् उर्दू से आये प्रेमचन्द का परिचय १९१५ ई० मे **'सौत'** द्वारा हिन्दी-जगत को प्राप्त हुआ। यद्यपि प्रेमचन्द इस उत्थान-काल मे दलित, पीड़ित जनता की पुकार के सन्देशवाहक के रूप में प्रकट हुए, तथा यथार्थ जीवन में आदर्श की प्रतिष्ठा का बीड़ा उन्होंने उठाया, तो भी इन की कुछ कहानियाँ कला की दृष्टि से काफी ऊँची ठहरेंगी। उन की कुछ कहानियों की ऊँचाई संभवतः हिन्दी मे लिखी गई अपने ढंग की कहानियों मे सर्वोच्च है। यद्यपि **कौशिकजी** भी इसी पद्धति पर कहानी लिखते थे, पर प्रेमचन्द पहले से

ही हिन्दी में लिख रहे थे। इस शैली के तीसरे लेखक **'सुदर्शन'** जी माने जाते हैं।

'उग्र' की कुछ कहानियाँ इतनी सुन्दर हैं कि उन्हे हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों की कोटि में निस्संकोच रखा जा सकता है। यद्यपि अतिशय यथार्थ के चित्रण के कारण, तथा अपने अक्खड़ व्यक्तित्व के कारण उनके साहित्य के प्रति भी वही भावना लोग व्यापक रूप से व्यक्त करते हैं. जो उनके प्रति लोगों की है, तो भी उनके साहित्य का तटस्थ अध्येता निश्चय ही यह कहे बिना नहीं रह सकता कि उन की प्रतिभा के साहित्यकार उस युग मे एकाध ही हुए। भाषा का जादू, शैली का निजत्व, विषय का प्रतिपादन सभी कुछ उन का अपना है। यद्यपि उन्होंने कुरुचिपूर्ण सामाजिक नग्न-सत्य का चित्रण किया है, तो भी उन का ध्येय आदर्श से अनुप्राणित रहा है—इस में सन्देह नहीं। वे उन कलाकारों में से है, जो सामाजिक कुरीतियों का नग्न-चित्र कलाकार की आँखों से दर्शाकर परिवर्तन के लिए समाज को उद्बोधित करते हैं। 'उग्र' की रचनाओं का सम्मान पाठक करते है, भले ही राग-विराग के कारण कुछ उन से नाक-भौं सिकोड़ें।

इस युग के कहानीकारों मे **राय कृष्णदास** की कुछ कहानियाँ कलात्मक अभिव्यक्ति के कारण अच्छी बन पडी है। **सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'** युग के अच्छे कथाकारों में गिने जाते हैं। प्रेम की टीस से भरी कहानी लिखने मे **पंडित विनोदशंकर व्यास** की मार्मिक सफलता भावनाओं का चित्र खींचने के कारण थी। यद्यपि **श्री० जी पी० श्रीवास्तव** इस उत्थान-काल के प्रथम कोटि के हास्यरस के कहानीकार समझे जाते है, तो भी सत्य यह है कि उन्होंने भड़ुआ अधिक लिखा है। **पंडित भगवतीप्रसाद वाजपेयी** की कहानियाँ परिस्थिति के सुन्दर चित्रण के कारण उत्कृष्ट बन गयी हैं। इस उत्थानकाल के प्रमुख कहानी-लेखकों में **जैनेन्द्रजी** की भी गणना की जाती है। ऊटपटांग भाषा में, ऊबड़-खाबड़ शैली में लिखने और दार्शनिकता के बोझ से बोझिल होने पर भी, उनकी कुछ कहानियाँ अच्छी बन पडी हैं। **स्व० चतुरसेन शास्त्री** के प्रशंसकों की भी कमी हिन्दी में नहीं। उन्हें केवल उस श्रेणी के कहानीकारों के अन्तर्गत रखा जा सकता है, जिन की

रचनाएँ केवल शैली-शिल्प-प्रदर्शन के लिए खिली जाती है। उन में अपने को अभिव्यक्त करने की क्षमता है। संभवतः जाने-माने लोगों में प्रभाव उत्पन्न करनेवाले जितने अधिक साहित्य का निर्माण उन्होंने किया, उतना उस युग के किसी अन्य ने नहीं। **राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह** भाषा के जादूगर तथा भावों के खिलाड़ी हैं। वे निरन्तर अपनी सरस रचनाओं द्वारा हिन्दी वाङ्मय को भर रहे हैं। वे अपनी भावनाओं के सरल चित्र-कार है। **'बेनीपुरी'** ने कुछ अच्छी कहानियाँ लिखो हैं। **श्री शिव पूजन सहाय की** कहानियाँ देहाती वातावरण का सजीव चित्र है। शैली, भावना एवं कथानक सभी दृष्टियों से उनकी कहानियाँ अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। इस भाँति कहानी के विकास का यह द्वितीय उत्थान-काल बहुत ही महत्वपूर्ण रहा, जिनमे हिन्दी के ३-४ मौलिक कहानीकारों को सदैव ही स्मरण किया जाता रहेगा।

हास्य और व्यंग्य की कहानियाँ इस युग मे कम ही लिखी गयीं। इस उत्थानकाल के सर्वाधिक प्राणवान् हास्य-कहानियों के रचयिता **श्री अन्नपूर्णानन्द** है।

वर्तमान

तृतीय उत्थान-काल इस के पश्चात् आरम्भ होता है। इस युग का कहानीकार अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिम जगत के विकसित कथा-साहित्य से परिचित हो चुका था। विविध ढंग की कहानियों का जिस पैमाने पर इस युग में विकास हुआ, वह निश्चय ही बहुत बड़ी सम्पन्नता का परिचायक है। इस विविधता का रूप तो १९२० की कहानियों के बाद ही से दीखने लगता है, पर उसका वास्तविक पल्लवन व्यापक रूप से १९३० के बाद ही से आरम्भ हो सका। इस युग में 'सेक्स' से ले कर जनहित को प्रभावित करनेवाली कहानियाँ लिखी गयीं। इस उत्थान-काल मे सेक्स सम्बन्धी कहानियाँ, सामाजिक कहानियाँ, राजनीतिक कहानियाँ, मनोवैज्ञानिक कहानियाँ, दार्शनिक कहानियाँ तथा वादों के घेरे में लिखी गयीं सभी प्रकार की कहानियाँ दीख पड़ेंगी। इस युग में पाँच-छः ऐसे महान प्रतिभा-सम्पन्न कहानीकार हिन्द-जगत के सम्मुख आये, जिन की गणना निश्चय ही बहुत

समय तक श्रेष्ठ कथाकारों में की जाती रहेगी। इस युग के प्रमुख कहानीकारों में **अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, 'बेढब', यशपाल, राधाकृष्ण, 'अश्क'** आदि हैं। **अज्ञेय** की कहानियों में अंतर्मुखी वृत्तियों को अभिव्यक्त करने की अनोखी क्षमता है। **भगवतीचरण वर्मा** की कहानियाँ अपने भीतर विद्रोह की भावनाओं को अभिव्यक्ति छिपाये हुए हैं। **'बेढब'** जी ने स्वस्थ हास्य की कहानियाँ अत्यन्त सुन्दर ढंग से उपस्थित कीं। 'बेढब' जी की कहानियों मे विविधता के साथ-साथ सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों पर व्यंग्य बड़े उच्च स्तर पर मिलता है।

यशपाल जैसा उच्च कोटि का कलाकार इस उत्थान-काल में हुआ, वैसा सभी दृष्टियों से कोई अन्य नहीं दिखता। चलती, प्राणवान् भाषा मे, जीवनमय चित्रों के बीच आस्थापूर्ण मानवतावादी संदेश की वाहिका उन की कहानियाँ हैं। वे कहीं-कहीं बहके भी हैं, दलगत राजनीति के प्रभाव के कारण, पर कलाकार यशपाल सर्वथा अपने ढंग का अकेला है तथा हिन्दी को बहुत बडी सम्पत्ति है।

राधाकृष्ण को कहानियाँ प्रचारित न होने पर भी अत्यन्त उच्च कोटि की है। **'घोस बोस बनर्जी'** के नाम से हास्यमयी कहानियाँ तथा राधाकृष्ण के नाम से उन्हों ने गंभीर कहानियों का सृजन किया। उन की अधिकाश कहानियाँ सफल तथा पूर्ण है। **'अश्क'** की कहानियाँ भी सामान्यतः अच्छी है। **स्व० पंडित बलदेवप्रसादमिश्र** की कहानियाँ मार्मिक, चुटीली तथा हृदय-मोहिनी है। काशी की ऐतिहासिक घटनाओं को आधार बना कर लिखी गयी **श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'** की कहानियाँ अत्यन्त सुन्दर तथा बेजोड़ है। **इलाचन्द्रजी** मनोविज्ञान के पंडित अधिक तथा कहानीकार कम हैं। सर्वश्री **कमल जोशी, निर्गुण भैरव प्रसाद गुप्त, पहाड़ी, मार्कण्डेय** यद्यपि प्रचार की दृष्टि से बहुत अधिक व्यापक नहीं, किन्तु उनका भविष्य निश्चय ही उज्वल है। वे सरल भावपूर्ण सुन्दर रचनाएँ अपने-अपने ढंग से लिखते चले जा रहे हैं।

स्त्रियाँ भी इस क्षेत्र मे आयीं जिन मे—**सुभद्राकुमारी चौहान, उषादेवी, मित्रा, होमवती, कमला त्रिवेणीशंकर, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा** आदि की कहानियाँ सम्मानित हुईं।

इस विवेचन मे संभवतः कुछ अच्छे कहानीकार छूट गये हों, पर अनेक प्रचार-प्राप्त कहानीकारों को न पा कर आश्चर्य हो सकता है। ज्ञान की पूर्णता के सम्बन्ध मे स्पष्ट ही लाघव मेरे साथ है, पर जानबूझ कर कुछ नामों की गणना नही की गई है। यद्यपि यह आश्चर्यजनक प्रतीत होगा; पर उनकी कहानियाँ जैसी होती है, वे ऐतिहासिक महत्त्व की नहीं। अस्वस्थ, गंदे और भद्दे कहानीकारों को भी छोड दिया गया है। एक चीज विशेष ध्यान देने की है कि आज रचना-वैचित्र्य तथा अहम् भावना से हिन्दी कहानी-कार जैसी रचना कर रहे है, वे इसकी व्यापकता को सीमित कर दे रहें है। यह प्रवृत्ति दुःखद है।

हिन्दी कहानी का भविष्य

कहानी का भविष्य अधिक मंगलमय दिखायी नही देता। एक ओर तो उसमे अतियथार्थवादी होने का आग्रह है, दूसरी ओर वह अपने प्रधान गुण औत्सुक्य और कुतूहल को भी छोडती जा रही है। कहानी की यह गति उसे किस ओर ले जायेगी यह कहना कठिन है। कल कहानी और स्केच मे कितना अन्तर होगा, दोनों के बीच की विभाजन-रेखा क्या होगी और जब अतियथार्थवाद के कारण कहानी केवल स्केच ही रह जायेगी तब क्या उसकी सर्वप्रियता बनी रहेगी? यह कुछ ऐसे विषय है जिनपर शीघ्र कुछ नही कहा जा सकता।

कहानी पर दूसरा आक्रमण एकांकी नाटकों का है। आज की परि-स्थिति भी एकांकी नाटको के विकास मे सहायक है। उसका यह विकास भी कहानियों के भविष्य को धक्का देगा। कहानी के क्षेत्र मे इधर अच्छी प्रतिभाएँ कम ही दिखाई पड़ रही है।

प्रकाशनारंभ

हिन्दी के कुछ लेखकों की पहली कहानी किस सन् में छपी है, उसकी तालिका नीचे है। इससे हिन्दी कहानीकारों का विकास-क्रम सरलता से समझा जा सकता है :—

सन् १९११—जयशंकर 'प्रसाद'
सन् ९९११—जी० पी० श्रीवास्तव
सन् १९११—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी
सन् १९१२—विश्वम्भरनाथ जिज्जा
सन् १९१२—विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'
सन् १९१३—राजा राधिकारमण प्रसाद सिह
सन् १९१४—ज्वालादत्त शर्मा
सन् १९१४—शिवपूजन सहाय
सन् १९१४—चतुरसेन शास्त्री
सन् १९१४—बदरीनाथ भट्ट
सन् १९१५—प्रेमचन्द
सन् १९१७—रायकृष्ण दास
सन् १९१७—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
सन् १९१८—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'
सन् १९१९—चंडी प्रसाद 'हृदयेश'
सन् १९१९—गोविन्दवल्लभ पंत
सन् १९२०—'सुदर्शन'
सन् १९२०—सुमित्रनन्दन पंत
सन् १९२१—भगवतीचरण वर्मा
सन् १९२२—पाडेय बेचन शर्मा 'उग्र'
सन् १९२३—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
सन् १९२३—श्री वृन्दावनलाल वर्मा
सन् १९२३—श्री इलाचन्द जोशी
सन् १९२४—भगवती प्रसाद वाजपेयी
सन् १९२४—अन्नपूर्णानन्द
सन् १९२४—श्री राजेश्वर प्रसाद सिंह
सन् १९२५—विनोदशंकर व्यास
सन् १९२६—वाचस्पति पाठक
सन् १९२६—जनार्दन झा 'द्विज'

सन् १६२६—धनीराम 'प्रेम'
सन् १६२७—पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'
सन् १६२७—ऋषभचरण जैन
सन् १६२७—श्रीमती शिवरानी' प्रेमचन्द'
सन् १६२८—जैनेन्द्रकुमार
सन् १६२८—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
सन् १६२८—सियारामशरण गुप्त
सन् १६२६—पं० प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'
सन् १६३०—राधाकृष्ण
सन् १६३०—'पहाडी'
सन् १६३१—परिपूर्णानन्द वर्मा
सन् १६३१—'बेढब' बनारसी
सन् १६३२—यशपाल
सन् १६३२—अज्ञेय
सन् १६३२—वीरेश्वर प्रसाद सिंह
सन् १६३३—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
सन् १६३३—श्री 'भारतीय'
सन् १६३३—अमृतलाल नागर
सन् १६३३—उषा देवी मित्रा
सन् १६३४—सुभद्राकुमारी चौहान

"....आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देख कर कहानी लिखने नही बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौंदर्य नही है। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है, जिसमे सौंदर्य की झलक हो और इसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके।"

—प्रेमचन्द

जयशंकर 'प्रसाद'

[जन्म—सन् १८८९ ई०]
[निधन—सन् १९३७ ई०]

प्रसाद जी काशी के सुँघनी साहु के प्रतिष्ठित घराने में उत्पन्न हुए थे। आप ने क्वींस कालेज में ७वीं कक्षा तक शिक्षा पायी थी। बाद में घर पर ही हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी आदि का अध्ययन किया था। आप ने साहित्य के सभी क्षेत्रों में मौलिक एवं नवीनतम सृष्टि की। आप में साहित्य के प्रति बचपन से ही रुचि थी। आप की प्रारम्भिक रचनाएँ 'इन्दु' मासिक-पत्रिका में प्रकाशित हुई थीं।

प्रसादजी की साहित्य-साधना की पृष्ठ-भूमि ऐतिहासिक थी, किन्तु आधुनिक जन-जीवन से भी वे उदासीन न रहे। वे मूलतः कवि थे। उनकी समस्त रचनाओं में उनका कवि हृदय ही दिखाई देता है। उन की अमर कृति 'कामायनी' छायावाद के स्वर्ण-मन्दिर की कीर्ति-पताका है। आप हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नाटकार भी हैं।

आप ने पाँच कहानी-संग्रह, तीन उपन्यास, नौ नाटक, एक निबन्ध तथा लगभग बाहर काव्य ग्रंथ लिखे। आपके कहानी संग्रहों के नाम हैं.—छाया, आकाश-दीप, इन्द्रजाल, प्रतिध्वनि, और आँधी।

[लग जाने पर नशा व्यक्ति का पिण्ड कभी नहीं छोडता, उस का काल्पनिक सुख के कारण जीवन के साथ स्थायी सम्बन्ध हो जाना है। यहाँ तक कि व्यक्ति खाने, पीने, रहने, पहनने की प्रारंभिक आवश्यकताओं से भी अधिक महत्त्व उसे देने लगता है। सामाजिक प्रतिष्ठा को भूल कर भी वह नशे के लिए सब कुछ करता है। इस सत्य का दर्शन प्राय: वहाँ होता है, जहाँ संभ्रान्त लोग जाने की भूल भी नहीं करते। ऐसे ही एक शराबी का चित्रण प्रस्तुत कहानी में किया गया हैं। इस कहानी में केवल चित्र उपस्थित करके ही लेखक नहीं रह गया हैं, अपितु सर्वमान्य सत्य से भी अधिक शक्तिशाली सत्य का उद्घाटन मार्मिक ढंग से लेखक ने किया है। वह सत्य है मधुआ का शराब से सदा के लिए केवल विराग ही नहीं, अपितु वास्तविक मानवीय स्नेह के लिए जीवन मे कर्म की प्रतिष्ठा का भी संन्नियोजन। यह संनियोजन मानव प्रेम की उस भावना का परिणाम है, जो प्रताड़ित की कराह मे यथार्थलोक मे दीख पड़ता है। भावनाओं की दृष्टि से मानव-प्रेम की प्रतिष्ठा के लिए कर्म मे जहाँ विश्वास की भावना प्रस्तुत कहानी का प्रतिपाद्य है, वहाँ कला की दृष्टि से कहानी के सभी तत्वों का सुनियोजित संगठन कहानी को उत्कृष्ट बनाने में भी सफल होता है।]

'आज सात दिन हो गये, पीने की कौन कहे, छुआ तक नहीं। आज सातवाँ दिन है, सरकार !

'तुम झूठे हो। अभी तो तुम्हारे कपड़े से महक आ रही है।'

'वह....वह तो कई दिन हुए। सात दिन से ऊपर....कई दिन हुए.... अँधेरे में बोतल उडेलने लगा। कपडे पर गिर जाने से नशा भी न आया। और आप को कहने को....क्या कहूँ.... सच मानिये, सात दिन....ठीक सात दिन से एक बूँद भी नहीं !'

ठाकुर सरदार सिह हँसने लगे। लखनऊ मे लड़का पढ़ता था। ठाकुर साहब भी कभी-कभी वहीं आ जाते। उन को कहानी सुनने का चसका था। खोजने पर यही शराबी मिला। वह रात को, दोपहर में, कभी-कभी सबेरे भी आ जाता, अपनी लच्छेदार कहानी सुनाकर ठाकुर साहब का मनोविनोद करता।

ठाकुर ने हँसते हुए कहा—'तो आज पियोगे न ?

'झूठ कैसे कहूँ। आज तो जितना मिलेगा, सब पी जाऊँगा। सात दिन चने-चबेने पर बिताये हैं किसलिए !'

'अद्‌भुत ! सात दिन पेट काट कर आज अच्छा भोजन न कर के तुम्हे पीने की सूझी है ! यह भी...'

'सरकार ! मौज-बहार की एक घडी, एक लम्बे दुःखपूर्ण जीवन से अच्छी। उस की खुमारी मे रूखे दिन काट लिए जा सकते हैं।'

'अच्छा आज दिन भर तुमने क्या-क्या किया ?'

'मैं ने ? अच्छा सुनिये—सबेरे कुहरा पड़ता था, मेरे धुँआँसे कम्बल-सा। वह भी सूर्य के चारो ओर लिपटा था। हम दोनों मुँह छिपाये पड़े थे।"

ठाकुर साहब ने हँस कर कहा—'अच्छा, तो इस मुंह के छिपाने का कोई कारण ?

'सात दिन मे एक बूँद भी गले मे न उतरी थी। भला मैं कैसे मुँह दिखा सकता था? और जब बारह बजे धूप निकली, तो फिर लाचारी थी। उठा, हाथ-मुँह धोने में जो दुःख हुआ, सरकार वह क्या कहने की बात है! पास में पैसे बचे थे। चना चबाने मे दाँत भाग रहे थे। कटकटी लग रही थी। पराठेवाले के पास पहुँचा, धीरे-धीरे खाता रहा और अपने को सेंकता भी रहा। फिर गोमती किनारे चला गया। घूमते-घूमते अँधेरा हो गया, बूँदें पड़ने लगीं। तब कहीं भागा और आप के पास आ गया ?

'अच्छा जो उस दिन तुमने गड़ेरियेवाली कहानी सुनायी थी, जिस में आसफुद्दौला ने उस की लड़की का आँचल भुने हुए भुट्टे के दानों के बदले मोतियों से भर दिया था, वह क्या सच है ?

'सच! अरे वह गरीब लड़की भूख से उन्हें चबा कर थू-थू करने लगी.... रोने लगी। ऐसी निर्दय दिल्लगी बड़े लोग कर ही बैठते हैं। सुना है श्रीरामचन्द्र ने भी हनुमानजी से ऐसा ही....'

ठाकुर साहब ठठाकर हंसने लगे। पेट पकड़ कर हंसते-हँसते लोट गये। साँस बटोरते हुए सम्हल कर बोले—'और बड़प्पन कहते किसे है? बंगाल तो कंगाल! गधी लड़की! भला उस ने कभी मोती देखे थे। चबाने लगी होगी। मैं सच कहता हूं आज तक तुम ने जितनी कहानियाँ सुनायीं सब में बड़ी टीस थी। शाहजादों के दुखड़े, रंग-महल की अभागिनी बेगमों के निष्फल प्रेम, करुण-कथा और पीड़ा से भरी हुई कहानियाँ ही तुम्हे आती हैं, पर ऐसी हँसनेवाली कहानी और सुनाओं, तो मैं तुम्हें अपने सामने ही बढ़िया शराब पिला सकता हूं।'

'सरकार' बूढ़ी से सुने हुए वे नवाबी के सोने-से दिन, अमीरों की रंगरलिया, दुखड़े की दर्द-भरी आहें, रंगमहलों में घुल-धुल कर मरनेवाली बेगमें, अपने-आप सिर में चक्कर काटती रहती हैं। मैं उन की पीड़ा से

रोने लगता हूँ। अमीर कंगाल हो जाते हैं। बड़ों-बड़ों के घमण्ड चूर हो कर धूल मे मिल जाते हैं। तब भी दुनिया बड़ी पागल है। मै उसके पागलपन को भूलने के लिए शराब पीने लगता हूँ—सरकार! नहीं तो यह बुरी बला कौन अपने गले लगाता!"

ठाकुर साहब ऊँघने लगे थे। अँगीठी में कोयला दहक रहा था। शराबी सरदी से ठिठुरा जा रहा था। वह हाथ सेंकने लगा। सहसा नींद से चौंक कर ठाकुर साहब ने कहा—"अच्छा जाओ, मुझे नींद लग रही है। वह देखो, एक रुपया पड़ा है, उठा लो। लल्लू को भेजते जाओ।"

शराबी रुपया उठा कर धीरे से खसका। लल्लू ठाकुर साहब का जमादार था। उसे खोजते हुए जब वह फाटक की बगलवाली कोठरी के पास पहुँचा, तो उसे सुकुमार कण्ठ से सिसकने का शब्द सुनायी पड़ा। वह खड़ा होकर सुनने लगा।

"तो सूअर रोता क्या है? कुँवर साहब ने दो ही लात न लगायी है! कुछ गोली तो नहीं मार दी?"—कर्कश स्वर मे लल्लू बोल रहा था; किन्तु उत्तर मे सिसकियों के साथ एकाध हिचकी भी सुनाई पड़ जाती थी। अब और भी कठोरता से लल्लू ने कहा—"मधुआ; जा सो रह! नखरा न कर, नही तो उठूँगा तो खाल उधेड़ दूँगा! समझा न?"

शराबी चुपचाप सुन रहा था। बालक की सिसकी और बढ़ने लगी फिर उसे सुनाई पड़ा—"ले, अब भागता है कि नहीं? क्यों मार खाने पर तुला है?"

भयभीत बालक बाहर चला आ रहा था। शराबी ने उसके छोटे-सुन्दर गोरे मुँह को देखा। आँसू की बूँदें ढुलक रही थीं। बड़े दुलार से उसका मुँह पोंछते हुए उसे लेकर वह फाटक के बाहर चला आया। दस बज रहे थे। कड़ाके की सरदी थी। दोनो चुपचाप चलने लगे। शराबी की सहानुभूति को उस छोटे-से सरल हृदय ने स्वीकार कर लिया। वह चुप हो गया। अभी वह एक तंग गली पर रुका ही था कि बालक के फिर से सिसकने की उसे आहट मिली। वह झिड़क कर बोल उठा—

"अब क्यों रोता है रे छोकरे ?"

"मैं दिन-भर से कुछ खाया नहीं।"

"कुछ खाया नहीं ! इतने बड़े अमीर के यहाँ रहता है और दिन-भर तुझे खाने को नहीं मिला ?"

"यही तो मैं कहने गया था जमादार के पास ; मार तो रोज ही खाता हूँ। आज तो खाना ही नहीं मिला। कुँवर साहब का ओवर-कोट लिए खेल मे दिन-भर साथ रहा। सात बजे लौटा, तो और भी नौ बजे तक कुछ काम करना पड़ा। आटा रख नहीं सका था। रोटी बनती तो कैसे ? जमादार से कहने गया था।"

भूख की बात कहते-कहते बालक के ऊपर उसकी दीनता और भूख ने एक साथ ही जैसे आक्रमण कर दिया। वह फिर हिचकियाँ लेने लगा।

शराबी उसका हाथ पकड़ कर घसीटता हुआ गली में ले चला। एक गन्दी कोठरी का दरवाजा ढकेल कर, बालक को लिये हुए वह भीतर पहुँचा। टटोलते हुए सलाई से मिट्टी की ढेबरी जला कर वह फटे कम्बल के नीचे से कुछ खोजने लगा। एक पराठे का टुकड़ा मिला। शराबी उसे बालक के हाथ में दे कर बोला—"तब तक तू इसे चबा, मैं तेरा गढ़ा भरने के लिए कुछ और ले आऊँ—सुनता है रे छोकरे ! रोना मत, रोयेगा तो खूब पीटूँगा। मुझे रोने से बड़ा बैर है। पाजी कहीं का, मुझे भी रुलाने का........"

शराबी गली से बाहर भागा। उसके हाथ में एक रुपया था—"बारह आने का एक देशी अद्धा और दो आने की चाप....दो आने की पकौड़ी....नहीं-नहीं आलू-मटर....अच्छा, न सही। चारों आने का मांस ही ले लूँगा, पर यह छोकरा ! इसका गढा जो भरना होगा। यह कितना खायेगा और क्या खायेगा। ओ ! आज तक तो कभी मैंने दूसरों के खाने का सोच किया ही नहीं। तो क्या ले चलूँ ? पहले एक अद्धा हो ले चलूँ।"

इतना सोचते-सोचते उस की आँखों पर बिजली के प्रकाश की झलक पड़ी। उस ने अपने को मिठाई की दुकान पर खड़ा पाया। वह शराब का

अद्धा लेना भूल कर मिठाई-पूरी खरीदने लगा। नमकीन लेना भी न भूला। पूरे एक रुपये का सामान ले कर वह दूकान से हटा। जल्द पहुँचने के लिए एक तरह से दौड़ने लगा। अपनी कोठरी में पहुँच कर उस ने दोनों की पाँत बालक के सामने सजा दी। उसकी सुगन्ध से बालक के गले मे एक तरावट पहुँची। वह मुस्कराने लगा।

शराबी ने मिट्टी की गगरी से पानी उँडेलते हुए कहा—"नटखट कहीं का, हँसता है। सोंधी बास नाक में पहुँची न? ले खूब ठूँस कर खा ले और फिर रोया कि पीटा!"

दोनों ने फिर बहुत दिन पर मिलनेवाले दो मित्रों की तरह साथ बैठ कर भर-पेट खाया। सीली जगह में सोते हुए बालक ने शराबी का पुराना कोट ओढ़ लिया था। जब उसे नींद आ गयी, तो शराबी भी कम्बल तान कर बड़ बड़ाने लगा—"सोचा था, आज सात दिन पर भर-पेट पी कर सोऊँगा; लेकिन वह छोटा सा रोना....पाजी न जाने कहाँ से आ धमका!"

:o: :o: :o:

एक चिन्तापूर्ण आलोक में आज पहले-पहल शराबी ने आँख खोल कर कोठरी में बिखरी हुई दारिद्रय की विभूति को देखा, और देखा उस घुटनों से ठुड्डी लगाये हुए निरीह बालक को। उसने तिलमिलाकर मन ही मन प्रश्न किया—"किसने ऐसे सुकुमार फूलों को कष्ट देने के लिए निर्दयता की सृष्टि की? आह री नियति! तब इस को ले कर मुझे घरवाली बनना पड़ेगा क्या? दुर्भाग्य! जिसे मैं ने कभी सोचा भी न था। मेरी इतनी माया-ममता, जिस पर केवल बोतल का अधिकार था—इस का पक्ष लेने लगी! इस छोटे-से पाजी ने मेरे जीवन के लिए कौन-सा इन्द्रजाल रचने का बीड़ा उठाया है! तब क्या करूँ? कोई काम करूँ? कैसे दोनों का पेट चलेगा! नहीं, भगा दूँ इसे...आँख तो खोले।"

बालक अँगड़ाई ले रहा था। वह उठ बैठा। शराबी ने कहा—"ले, उठ, कुछ खा ले। अभी रात का बचा हुआ है, और अपनी राह देख! तेरा नाम क्या है रे?"

बालक ने सहज हँसी हँस कर कहा—"मधुआ। भला हाथ मुँह भी न धोऊँ खाने लगूँ ! जाऊँगा कहाँ ?"

"आह ! कहाँ बताऊँ इसे कि चला जाय। कह दूँ भाड़ में जाय; किन्तु वह आज तक दुःख की भट्ठी में जलता ही तो रहा है। तो..." वह चुप-चाप घर से झल्ला कर सोचता हुआ निकला—"ले पाजी, अब यहाँ लौटूँगा ही नहीं। तू ही इस कोठरी में रह !'

शराबी घर से निकला। गोमती-किनारे पहुँचने पर उसे स्मरण हुआ कि वह कितनी ही बातें सोचता आ रहा था, पर कुछ भी सोच न सका। हाथ-मुँह धोने लगा। जलती हुई धूप निकल आयी थी; वह चुपचाप गोमती की धारा को देख रहा था। धूप की गरमी से सुखी होकर वह चिन्ता भूलने का प्रयत्न कर रहा था कि किसी ने पुकारा—

"भले आदमी रहे कहाँ ? सालों पर दिखायी पड़े। तुम को खोजते-खोजते मैं थक गया।"

शराबी ने चौंक कर देखा। वह कोई जान-पहचान का तो मालूम होता था, पर कौन है यह ठीक-ठीक न जान सका।

उसने फिर कहा—"तुम्हीं से कह रहे है। सुनते हो, उठा ले जाओ अपनी सान धरने की कल, नही तो सड़क पर फेंक दूँगा। एक ही तो कोठरी जिस का मैं दो रुपया किराया लेता हूँ, उस में क्या मुझे अपना कुछ रखने के लिए नहीं है ?"

"ओहो ! रामजी....तुम हो भाई, मैं भूल गया था। तो चलो आज ही उसे उठा लाता हूँ।" कहते हुए शराबी ने सोचा—"अच्छी रही, उसी को बेच कर कुछ दिनों तक काम चलेगा।"

गोमती नहाकर, रामजी—उस का साथी, पास ही अपने घर पर पहुँचा। शराबी को कल देते हुए उसने कहा—'ले जाओ, किसी तरह मेरा इस से पिण्ड छूटे।'

बहुत दिनों पर आज उस को कल ढोना पड़ा। फिर किसी तरह अपनी

कोठरी मे पहुँच कर उसने देखा कि बालक चुपचाप बैठा है। बड़बड़ाते हुए उस ने पूछा—'क्यों रे, तुने कुछ खा लिया कि नहीं ?'

'भर-पेट खा चुका हूँ, और वह देखो तुम्हारे लिए भी रख दिया है।' कह कर उसने अपनी स्वाभाविक मधुर हँसी से उस रूखी कोठरी को तर कर दिया।

शराबी क्षण-भर चुप रहा। फिर चुपचाप जलपान करने लगा। मन-ही-मन सोच रहा था—यह भाग्य का संकेत नहीं तो क्या है? चलूँ, फिर कल लेकर सान देने का काम चलता करूँ। दोनों का पेट भरेगा। वही पुराना चरखा फिर सिर पड़ा। नहीं तो दो बातें, किस्सा-कहानी इधर-उधर की कह कर अपना काम चला ही लेता था! फिर अब तो बिना कुछ किये घर नही चलने का। जल पी कर बोला—"क्यो रे मधुआ, अब तूँ कहाँ जायगा ?"

"कही नही !"

"यह लो, तो फिर क्या यहाँ जमा गड़ी है कि मैं खोद-खोद कर तुझे मिठाई खिलाया करूँगा ?"

"तब कोई काम करना चहिये।"

"करेगा ?"

"जो कहो।"

"अच्छा, तो आज मेरे साथ-साथ घूमना पड़ेगा। यह कल तेरे लिए लाया हूँ। चल, आज से तुझे सान देना सिखाऊँगा। कहाँ रहूँगा, इस का कुछ ठीक नही ! पेड के नीचे रात बिता सकेगा ?"

"कही भी रह सकूँगा, पर उस ठाकुर की नौकरी न कर सकूँगा !"—शराबी ने एक बार स्थिर दृष्टि से उसे देखा। बालक की आँखें दृढ़ निश्चय की सौगन्ध खा रही थीं।

शराबी ने मन-ही-मन कहा—'बैठे-बैठाये यह हत्या कहाँ से लगी। अब तो शराब न पीने की मुझे भी सौगन्ध लेनी पड़ी।' वह साथ ले जाने-

वाली वस्तुओं को बटोरने लगा। एक गट्ठर का और दूसरा कल का, दो बोझे हुए।

शराबी ने पूछा—"तू किसे उठायेगा?"

"जिसे कहो।"

"अच्छा तेरा बाप जो मुझको पकड़े तो?"

"कोई नहीं पकड़ेगा, चलो भी, मेरे बाप मर गये।"

शराबी आश्चर्य से उस का मुँह देखता हुआ कल उठा कर खड़ा हो गया। बालक ने गठरी लादी। दोनों कोठरी छोड़ कर चल पड़े।

पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'

[जन्म—सन् १८८३ ई०]

[निधन—सन् १९३२ ई०]

जयपुर मे आप का जन्म एक संस्कृतज्ञ, विद्वान् घराने मे हुआ था। १९०४ ई० मे प्रयाग विश्वविद्यालय से आप ने बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की तथा आप का परीक्षा-फल सर्वोत्तम था। मेयो कालेज अजमेर मे आप संस्कृत के प्रधानाध्यापक थे। आपने पुरातत्व, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति, प्राकृत, पाली और वैदिक संस्कृति पर अनेक विद्वत्ता-पूर्ण निबन्ध लिखे हैं। आप १९२० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में 'कालेज आफ ओरियण्टल लर्निग' के आचार्य नियुक्त हुए।

हिदी कथा-साहित्य में अपनी एकमात्र कहानी **'उसने कहा था'** से वे अमर हैं। वास्तव में हिन्दी के वे पहले यथार्थवादी कहानीकार ठहरते हैं। उन की रचनाओं के नाम हैं, **'गुलेरी जी की तीन कहानियाँ'**—कहानी संग्रह, तथा **'पुरानी हिन्दी'**—निबन्ध संग्रह।

उसने कहा था

[अपने प्रकाशन-काल से ही (सन् १९१५ में 'सरस्वती' में प्रकाशित) प्रस्तुत कहानी हिन्दी-साहित्य मे अद्वितीय मानी जाती है। इस का कारण इस की सर्वांगपूर्णता है। निस्पृह एवं पवित्र यथार्थ प्रेम की उत्सर्गमयी घटना-प्रधान अभिव्यक्ति कहानी के मूल में जीवन के सचित्र सामान्य वातावरण के अन्तर्गत है। ममत्व एवं स्नेह के लिए सतत सहज उत्सर्ग का अभूतपूर्व चित्रण स्वतः सिद्ध हो कहानी में प्रस्फुटित हुआ है।

रचना-विधान की दृष्टि से कहानी के समस्त अवयवों का नैसर्गिक संघटन लेखक ने किया है; साथ ही सफल यथार्थ वातावरण की सजीव रचना भी। सभी तत्त्वों का उत्स स्वतः मार्मिक ढंग से हुआ है, लेखक ने स्वयं कहीं भी अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहा है। वातावरण के सजीव चित्रों के भीतर स्नेह की वासनाहीन शक्ति की लेखक ने जिस ढंग से सृष्टि की है, वह भी स्मरणीय है। कहानी आरम्भ से अन्त तक एकरस हो अपने प्रभाव की स्थायी छाप जिस भाँति छोड़ने में सक्षम हुई है, वह क्षमता भी स्थायी महत्त्व की है।]

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की ज़बान की कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गयी है और कान पक गये है, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकाटवालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौडी सड़कों पर घोड़ों की पीठ को चाबुक मे धुनते हुए इक्केवाले कभी घोड़ों की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते है, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते है, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चींथ कर अपने को ही सताया हुआ बताते है और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर मे उनकी बिरादरीवाले तङ्ग, चक्करदार गलियों ने, हर एक लड्ढीवाले के लिए ठहर कर; सब्र का समुद्र उमड़ा कर—'बचो खालसाजी' 'हटो भाई जी', 'ठहरना भाई', 'आने दो लालाजी', 'हटो बाछा' कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरो और बत्तखों, गन्ने खोमचे और भारेवालों के जङ्गल मे से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं; चलती है पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने है—'हट जा, जीणे जोगिये; हट जा करमा वालिये; हट जा पुत्ताँ प्यारिये; बच जा लम्मी वालिये।' समष्टि मे इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्योंवाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है? बच जा।

ऐसे बम्बूकाटवालों के बीच में हो कर एक लड़का और एक लड़की चौक की दुकान में आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए

दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दुकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर भर गीले पापड़ों को गड्डी को गिने बिना हटता न था।

'तेरे घर कहाँ हैं ?'

'मगरे में,....और तेरे ?'

'माझे में,....यहाँ कहाँ रहती है ?'

'अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते है।'

'मै भी मामा के यहाँ आया हूँ, उन का घर गुरुबाजार मे है।'

इतने मे दूकानदार निबटा और इन का सौदा देने लगा। सौदा ले कर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जा कर लड़के ने मुस्कुराकर पूछा—'तेरी कुड़मायी हो गयी ?' इस पर लड़की कुछ आँखे चढ़ाकर 'धत् !' कह कर दौड गयी और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-दूसरे दिन सब्जीवाले के यहाँ या दूधवाले के यहाँ अकस्मात् दोनो मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा—'तेरी कुड़माई हो गई है ?' और उत्तर मे वही 'धत् !' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी मे चिढ़ाने के लिए पूछा, तो लड़की लडके की सम्भावना के विरुद्ध बोली—'हाँ हो गयी।'

'कब ?'

'कल,—देखते नही यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू !' लडकी भाग गयी। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते मे एक लडके को मोरी मे ढकेल दिया, एक छाबड़ीवाले की दिन भर की कमाई खोयी, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले मे दूध उँडेल दिया। सामने नहा कर आती हुई किसी वैष्णवी से टकरा कर अन्धे की उपाधि पायी। तब कहीं घर पहुँचा।

'राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है ! दिन-रात खन्दकों मे बैठे-बैठे हड्डियाँ जकड़ गयीं। लुधियाने से दस-गुना जाड़ा, और मेह और बरफ ऊपर से ! पिण्डलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। जमींन कहीं दिखता नहीं—

घण्टे-दो-घण्टे में कान के परदे फाड़नेवाले धमाके के साथ सारी खन्दक हिल जाती है और सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती हैं। इस जेबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का ज़लज़ला सुना था, यहाँ दिन में पचीस जलज़ले होते हैं। जो कही खन्दक से बाहर साफा या कुहनी निकल गयी, तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी मे लेटे हुए है या पास की खत्तियों मे छिपे रहते है।'

'लहनासिह, और तीन दिन मे। चार तो खन्दक मे ही बिता दिये। परसों 'रिलीफ' आ जायगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका करेंगे और पेट भर खाकर सो रहेगे। उसी फिरङ्गी मेम के बाग मे, मखमल की-सी हरी घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते है, दाम नहीं लेती। कहती है तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।

'चार दिन तक पलक नही झँपी, बिना फेरे घोड़ा बिगडता है और बिना लडे सिपाही। मुझे तो सङ्गीन चढा कर मार्च का हुक्म मिल जाय! फिर सात जर्मनों को अकेला मार कर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था पटकना नसीब न हो। पाजी कही के, कलों के घोड़े सङ्गीन देखते ही मुँह फाड देते है और पैर पकड़ने लगते है। यों अँधेरे मे तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया नहीं तो—'

'नही तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते?' सूबेदार हजारासिह ने मुस्कराकर कहा—'लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नही चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ भी गये तो क्या होगा?'

'सूबेदार जो सच है'—लहनासिह बोला—'पर करें क्या? हड्डियों-हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाई मे दोनों तरफ से चम्बे की बावलियों के-से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय तो गर्मी आ जाय।'

'उदमी, उठ, सिगड़ी मे कोयले डाल। वजीरा, तुम चार जने बाल्टियाँ ले कर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह शाम हो गयी है, खाई के दरवाजे का पहरा बदल दे।' यह कहते हुए सूबेदार सारी खन्दक में चक्कर लगाने लगा।

वजीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भर कर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—'मै पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!' इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भर कर उस के हाथ में देकर कहा—'अपनी बाड़ी के खरबजों मे पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब भर मे नही मिलेगा।'

'हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है। मै तो लड़ाई के बाद सरकार से दस गुना जमीन माँग लूँगा और फलों के बूटे लगाऊँगा!'

'लाड़ी-होराँ को भी यहाँ बुला लोगे? या वही दूध पिलानेवाली फिरङ्गी मेम—

'चुप कर। यहाँ वालों को शरम नहीं।'

'देश-देश को चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तम्बाकू नहीं पीते। वह सिगरेट देने को हठ करती है, ओंठों मे लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिए लड़ेगा नहीं?'

'अच्छा, अब बोधासिंह कैसा है?'

'अच्छा है।'

'जैसे मै जानता ही न होऊँ! रात भर तुम अपने दोनों कम्बल उसे उढाते हो। आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो। आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है मौत है, और निमोनिया से मरनेवालों को मुरब्बे नहीं मिला करते।'

'मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई

कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।'

वज़ीरासिंह ने त्योरी चढा कर कहा—'क्या मरने-मारने की बात लगायी है?'

इतने में एक कोने से पंजाबी गीत की आवाज़ सुनायी दी। सारी खन्दक गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताजे हो गये मानों चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

[३]

दो पहर रात हो गई है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधासिंह खाली बिसकुटों के तीन टीनों पर अपने दोनों कम्बल बिछा कर और लहनासिंह के दो कम्बल और एक ब्रानकोट ओढ कर सो रहा है। लहनसिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आख खाई के मुख पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर। बोधासिंह कराहा।

'क्यों बोधसिंह भाई, क्या है?'

'पानी पिला दो।'

लहनासिंह ने कटोरा उस के मुँह से लगाकर पूछा—'कहो कैसे हो?'

पानी पी कर बोधा बोला—'कँपनी छूट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।,

'अच्छा, मेरी जरसी पहन लो।'

'और तुम?'

'मेरे पास सिगडी है और मुझे गरमी लगती है। पसीना आ रहा है।'

'ना, मैं नहीं पहनता, चार दिन से तुम मेर लिए—'

'हाँ, याद वाई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सबेरे हो आई है। विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरु उन का भला करें!'

यों कह कर लहना अपना कोट उतार कर जरसी उतारने लगा।

'सच कहते हो?'

'और नहीं झूठ?' यों कह कर नाहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और जीन का कुरता पहन कर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा थी।

आधा घण्टा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज आई—'सूबेदार हजारासिंह!'

'कौन? लपटन साहब! हुकुम हुजूर!' कह कर सूबेदार तन कर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

'देखो, इसी दम धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उस में पचास से ज्यादा जर्मन नहीं है। इन पेड़ों के नीचे नीचे दो खेत काट कर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़-कर सब को साथ ले उनसे जा मिलो। खन्दक छीन कर वहीं जब तक दूसरा हुक्म न मिले डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।'

'जो हुक्म!'

चुपचाप सब तैयार हो गये। बोधा भी कम्बल उतार कर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ, तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझ-कर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहे, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझा कर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेर कर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकाल कर सुलझाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ा कर कहा—'लो, तुम भी पियो।'

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपा कर बोला—'लाओ साहब!' हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा, बाल देखे, तब उस का माथ ठनका। लपटन साहब के

पट्टियोवाले बाल एक दिन मे कहाँ उड़ गये और उन को जगह कैदियों के से कटे हुए बाल कहाँ से आ गये !

शायद साहब पिये है और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया ?

'क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जायँगे ?'

'लड़ाई खत्म होने पर । क्यों, क्यों यह देश पसन्द नहीं ?,

'नहीं साहब शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ ? याद है, पार-साल नकली लड़ाई के पीछे हम-आप जगाधरी के जिले में शिकार करने गये थे ?'–'हाँ हाँ !' वही, अब आप खोते (गधे) पर सवार थे और आप का खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के मन्दिर मे जल चढाने को रह गया था । 'बेशक, पाजी कहीं का ?'—'सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैने कभी न देखी थी । और आप की एक गोली कंधे मे लगी और पट्ठे मे निकली । ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मजा है । क्यों साहब, शिमले से तैयार हो कर उस नीलगाय का सिर आ गया था न ? आपने कहा था कि रेजिमेन्ट की मेस मे लगायेंगे ।'

'हो, पर हमने वह विलायत भेज दिया ।'

'ऐसे बड़े-बड़े सीग ! दो-दो फुट के तो होंगे ?'

'हाँ, लहनासिह, दो फुट चार इंच के थे, तुमने सिगरेट नहीं पिया ?'

'पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ', कह कर लहनासिह खन्दक मे घुसा । अब उसे सन्देह नहीं रहा था । उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए ।'

अँधेरे में सोनेवाले से वह टकराया ।

'कौन....? वजीरसिह ?'

'हाँ क्यों लहना ? क्या कयामत आ गई ? जरा तो आंख लगने दी होती ?

[४]

'होश में आओ । कयामत आई है और लपटन साहब की वर्दी पहन कर आई है ।'

'क्या ?'

'लपटन साहब या तो मारे गये है या कैद हो गये हैं। उनको वर्दी पहन कर कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इस का मुँह नहीं देखा, मैंने देखा है और बातें की है। सौहरा साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट किया है।'

'तो अब ?'

'अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार-होराँ कीचड में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सुबेदार से कहो कि एक दम लौट आवें। खन्दक की बात झूठ है। चले जाओ, खन्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खड़के। देर मत करो।'

'हुकुम तो यह है कि यहीं—'

'ऐसी-तैसी हुकुम की! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सबसे बड़ा अफसर है, उस का हुकुम है। मैं लपटन साहब को खबर लेता हूँ।'

'पर यहाँ तो तुम आठ ही हो ?'

'आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ!'

लौट कर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उस ने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को तीन जगह खन्दक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जा कर एक दियासलाई जला कर गुत्थी पर रखने....

बिजली की तरह दोनों हाथों से बन्दूक को उठा कर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तान कर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुन्दा साहब की गर्दन पर

मारा और साहब 'आख ! मीन गोट्ट' (हाथ ! मेरे राम) कहते हुए चित्त हो गये। लहनासिंह ने तीन गोले बीन कर खंदक के बाहर फेंके और साहब को घसीट कर सिगड़ी के पास से हटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और एक डायरी निकाल कर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्च्छा हटी। लहनासिंह हँस कर बोला—'क्यों लपटन साहब, मिज़ाज कैसा है ? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं ? यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नील गायें होती हैं और उनके दो फुट चार इञ्च के सींग होते हैं; यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाता है और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं, पर यह तो कहो ऐसी साफ उर्दू कहाँ से सीख आये ? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डैम' के पाँच लफ्ज भी नहीं बोला करते थे।'

लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने मानों जाड़े से बचने के लिए दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—'चालाक तो बड़े हो, पर माझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा हैं। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिए। तीन महीने हुए एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने का ताबीज बाँटता था। और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा (खटिया) बिछा कर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनी वाले बड़े पंडित हैं। वेद पढ़-पढ़ कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायेंगे तो गौ-हत्या बंद कर देंगे। मंडी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपए निकाल लो, सरकार का राज्य जाने वाला है। डाकबाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्ला जी दाढ़ी मूँड़ दी थी और गाँव के बाहर निकाल कर कहा था—जो मेरे गाँव में अब पैर रखा तो....।'

साहब की जेब में से पिस्तौल चली और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हेनरी मार्टिन के दो फायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुन सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया—'क्या है !'

लहनासिंह ने उसे तो यह कह कर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया।' और औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें ले कर तैयार हो गये। लहना ने साफा फाड़ कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कस कर बाँधी। घाव माँस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्ला कर खाई मे घुस पड़े। सिक्खों को बन्दूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तक कर मार रहा था, वह खड़ा था, और लेटे हुए थे) और वे सत्तार। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़ कर जर्मन आगे घुस आते थे। थोड़े-से मिनटों मे वे...

अचानक आवाज आई—'वाह गुरुजी की फतह ! वाह गुरुजी दा खालसा !' और धड़ाधड़ बन्दूकों के फायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच आ गये। पीछे से सूबेदार हज़ारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछेवालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया। एक किलकारी और—'अकाल सिक्खां दी फौज आई ! वाह गुरुजी दा खालसा ! ! सत श्री अकाल पुरुष ! ! !' और लड़ाई खतम हो गई। तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गए, सूबेदार के दाहिने कंधे में से गोली आर-पार निकल गयी। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगो। उसने घाव को खंदक की गीली मिटटी से पूर लिया और बाकी को साफा कस कर कमर बन्द की तरह लपेट लिया। और किसी को खबर न हुई कि लहना के दूसरा घाव भारी लगा हैं।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है और हवा ऐसी चल रही थी जैसी की बाण-भट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य' कह-लाता। वज़ीरा सिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन-भर फ्रांस की भूमि मेरे

बूटों से चिपक रही थी, जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार ने लहनासिंह से सारा हाल सुना और कागज़ात पा कर वे उस की तुरन्त बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहिनी ओर की खाईवालों ने सुन ली थी, उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं जो कोई डेढ घण्टे के अन्दर-अन्दर आ पहुँची। फील्ड अस्पताल नजदीक था। सुबह होते होते वहाँ पहुँच जाएँगे, इसलिए मामूली पट्टी बाँध कर एक गाड़ी मे घायल लेटाये गये और दूसरी में लाशें रखी गई। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ मे पट्टी बाँधवानी चाही, पर उसने यह कह कर टाल दिया कि थोड़ा घाव है, सबेरे देखा जायगा। बोधासिंह ज्वर मे बर्रा रहा था। वह गाड़ी मे लेटाया गया। लहना को छोड़ कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा 'तुम्हें बोधा की, कसम है और सूबेदारनीजी की सौगन्ध है जो इस गाड़ी मे न चले जाओ।'

'और तुम ?'

'मेरे लिये वहाँ पहुँच कर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुर्दों के लिए भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ वज़ीरासिंह मेरे पास ही है।

'अच्छा, पर—'

'बोधा गाड़ी पर लेटा गया ? भला। आप भी चढ़ जाओ....'

'सुनिए तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना और जब घर जाओ तो कह देना कि तुमने जो कहा था, वह मैंने कर दिया।'

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा—'तैने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा ? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था ?'

'अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा, वह लिख देना।'

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया—'वजीरा पानी पिला दे और मेरा कमरबन्द खोल दे। तर हो रहा है।'

[५]

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म-भर की घटनाएँ एक-एक करके सामने आती है। सारे दृश्यो के रंग साफ होते हैं। समय की धुन्ध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

:o: :o: .o: :o:

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्जीवाले के यहाँ, हर कहीं उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है 'तेरी कुड़माई हो गई है?' तब 'धत्!' कह कर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा तो उसने कहा—'हाँ कल हो गई, देखते नही यह रेशम के फूलोंवाला सालू?' सुनते ही लहना को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ?

'वजीरासिंह पानी पिला दे!'

:o: :o: :o: :o:

पचीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ राइफल्स मे जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकदमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजीमेण्ट के अफसर को चिट्ठी मिली कि फौज आलम पर जाती है, फौरन चले आओ! साथ ही में सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधसिंह भी लाभ पर जाते हैं। लोटते हुए हमारे घर होते जाना, साथ चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे तब सूबेदार 'बड़े' (जनाने) में से निकल कर आया। बोला—'लहना, सूबेदारनी तुमको जानती है, बुलाती है, जा मिल आ।'

लहनासिंह भीतर पहुंचा। सूबेदारनी मुझे जानती है! कब से? रेजिमेण्ट के क्वाटरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा, असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

'मुझे पहचाना?'

'नहीं।'

'तेरी कुड़माई हो गई!—धत्—कल हो गई—देखते नहीं रेशमी बूटोंवाला सालू—अमृतसर में...

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

'वजीरा, पानी पिला—उसने कहा था।'

स्वप्न चल रहा है, सूबेदारनी कह रही है—'मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया, लालपुर में जमीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों (स्त्री) की एक घँघरिया पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फौज मे भर्ती हुए उसे एक ही बरस हुआ है। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।' सूबेदारनी रोने लगी—'अब दोनों जाते है। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोडा दहीवाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे और मुझे उठा कर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।'

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी (अन्दर का घर) मे चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

'वज़ीरासिंह पानी पिला—उसने कहा था।'

लहना का सिर अपनी गोद में रखे वज़ीरासिंह बैठा है। जब माँगता

है, तब पानी पिला देता है। आध घण्टे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—
'कौन ? कीरतसिंह !'

वजीरा ने कुछ समझकर कहा—'हाँ।'

'भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट (जाँघ) पर मेरा सिर रख ले।'

'हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस अब के हाड़ (आषाढ़) में यह आम खूब फलेगा। चाचा-भतीजा दोनों यहीं बैठ कर आम खाना। जितना बड़ा मेरा भतीजा है उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था, उसी महीने में मैंने इसे लगाया था !'

वजीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे।

:o: :o: :o: :o:

कुछ दिनों पीछे लोगों ने अखबार में पढ़ा—फ्रांस और बेलजियम—६८ वीं सूची—मैदान में घावों से मरा, नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

मुंशी प्रेमचन्द

[जन्म—सन् १८८० ई०]

[निधन—सन् १९३६ ई०]

प्रेमचन्द जी काशी के निकट 'लमही' नामक गाँव में उत्पन्न हुए। ६ वर्ष की अवस्था में माता और १४ वर्ष की अवस्था में पिता का निधन हो गया। हाई स्कूल पास करने के बाद प्राइवेट बी० ए० पास किया तथा डिप्टी इन्सपेक्टर आफ स्कूल हो गये। सन् १९०१ ई० से ही उर्दू में उन्होंने उपन्यास लिखना आरम्भ कर दिया था। हिन्दी के अनेक आचार्यों ने प्रेमचन्द जी की पहली कहानी 'पंच परमेश्वर' को माना हैं, पर वास्तव में हिन्दी में प्रकाशित इनकी पहली कहानी 'सौत' दिसम्बर, सन् १९१५ ई० के सरस्वती में प्रकाशित हुई थी। इसके पहले ही 'प्रेम पचीसी' नामक इनका संग्रह उर्दू में निकल चुका था। आपने ग्रामीण जीवन का चित्र अपने साहित्य में सफलतापूर्वक खींचा। आप हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानीकार माने जाते हैं। आपने अनेक सफल यथार्थोन्मुखी आदर्श प्रतिष्ठापक उपन्यास लिखे हैं। आप हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कथाकार माने जाते है। आपकी अनेक पुस्तकों का १३ भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। आपने लगभग पाँच सौ कहानियाँ तथा अनेक उपन्यास लिखे हैं।

[यद्यपि प्रेमचन्द जी ने अपने वृहद् कहानी-साहित्य में जीवन के सभी पक्षों को स्पर्श करने का प्रयत्न किया है तो भी उनकी सफलता भारतीय किसानों के जीवन-मर्म का चित्रण करनेवाली, उनके जीवन पर प्रकाश डालनेवाली और उनके पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों को उद्घाटित करनेवाली कहानियों में स्थायी रूप से गौरवशालिनी हुई।

'सुजान-भगत' चरित्र-चित्रण-प्रधान उद्देश्य-प्रतिष्ठापिका कहानी है। इसका मूल ध्येय सुजान-भगत के चित्र एवं चरित्र को उपस्थित कर यह प्रतिपादित करना है कि कुटुम्ब और परिवार के लोग तब तक व्यक्ति की पूजा करते हैं जब तक वह मर-खप कर घर के लोगों के लिए धन कमाता रहता है, अन्यथा पुत्र और सहधर्मिणी पत्नी तक उसकी अवहेलना करते हैं। साथ ही जीवन मे 'लाग' की महत्ता एवं शक्ति का प्रतिपादन भी इस कहानी का विषय है। अपने उद्देश्यों की प्रतिष्ठा करने में कहानी पूर्ण सफल हुई है।]

सीधे-सादे किसान धन हाथ आते ही धर्म और कीर्ति की ओर झुकते हैं। दिव्य समाज की भाँति पहले वे अपने भोग-विलास की ओर नहीं दौड़ते। सुजान की खेती में कई साल से कंचन बरस रहा था। मेहनत तो गाँव के सभी किसान करते थे, पर सुजान के चन्द्रमा बली थे। ऊसर मे भी दाना छींट आता तो कुछ न कुछ पैदा हो जाता था। तीन वर्ष लगातार ऊख लगती गई। उधर गुड़ का भाव तेज था, कोई दो-ढाई हजार हाथ में आ गये। बस, चित्त की वृत्ति धर्म की ओर झुक पड़ी। साधु-संतों का आदर-सत्कार होने लगा, द्वार पर धूनी जलने लगी। कानून-गो इलाके में आते तो महतो के चौपाल मे ठहरते। हल्के के हेडकांस्टेबिल, थानेदार, शिक्षा-विभाग के अफसर—एक-न-एक उस चौपाल में पड़ा ही रहता। महतो मारे खुशी के फूले न समाते। धन्य भाग्य! उनके द्वार पर अब इतने बड़े हाकिम आकर ठहरते है। जिन हाकिमों के सामने उनका मुँह न खुलता था, उन्हीं की अब महतो-महतो कहते जबान सूखती थी। कभी-कभी भजन-भाव हो जाता। एक महात्मा ने डौल अच्छा देखा तो गाँव में आसन जमा लिया। गाँजे और चरस की बहार उड़ने लगी। एक ढोलक आई, मँजीरे मँगवाये गये और सत्संग होने लगा। यह सब सुजान के दम का जुलूस था। घर में सेरों दूध होता, मगर सुजान के कंठ-तले एक बूँद जाने की कसम थी। कभी हाकिम लोग चखते, कभी महात्मा लोग। किसान को दूध-घी से क्या मतलब, उसे रोटी और साग चाहिए। सुजान की नम्रता का अब वारापार न रहा। सबके सामने सिर झुकाये रहता, कभी लोग यह न कहने लगें कि धन पाकर इसे घमण्ड हो गया है। गाँव मे कुल तीन ही कुएँ थे। बहुत से खेतों में पानी न पहुँचता था, खेती मारी जाती थी। सुजान ने एक कुआँ बनवा दिया। कुएँ का विवाह हुआ, यज्ञ हुआ, ब्रह्म-

भोज हुआ। जिस दिन कुएँ पर पहली बार पुर चला, सुजान को मानों चारों पदार्थ मिल गये ! जो काम गाँव में किसी ने न किया था, वह बाप-दादा के पुण्य-प्रताप से सुजान ने कर दिखाया।

एक दिन गाँव में गया के यात्री आकर ठहरे। सुजान के द्वार पर उनका भोजन बना। सुजान के मन में भी गया करने की बहुत दिनों से इच्छा थी। यह अच्छा अवसर देख कर वह भी चलने को तैयार हो गया।

उसकी स्त्री बुलाकी ने कहा—अभी रहने दो, अगले साल चलेंगे।

सुजान ने गम्भीर भाव से कहा—अगले साल क्या होगा, कौन जानता है। धर्म के काम मे मीन-मेष निकालना अच्छा नही। जिंदगानी का क्या भरोसा !

बुलाकी—हाथ खाली हो जायगा।

सुजान—भगवान् की इच्छा होगी तो फिर रुपए हो जायँगे। उनके यहाँ किस बात की कमी है।

बुलाकी इसका क्या जवाब देती। सत्कार्य मे बाधा डाल कर अपनी मुक्ति क्यों बिगाड़ती ? प्रातःकाल स्त्री और पुरुष गया करने चले। वहाँ से लौटे तो यज्ञ और ब्रह्मभोज की ठहरी। सारी बिरादरी निमन्त्रित हुई। ग्यारह गाँवों में सुपारी बँटी। इस धूमधाम से कार्य हुआ कि चारो ओर वाह-वाह मच गई। सब यही कहते कि भगवान् धन दे, तो दिल भी ऐसा ही दे। घमण्ड तो छू नहीं गया, अपने हाथ से पत्तल उठाता फिरता था, कुल का नाम जगा दिया। बेटा हो तो ऐसा हो। बाप मरा तो घर में भूनो भाँग भी नही थी। अब लक्ष्मी घुटने तोड़कर आ बैठी है।

एक द्वेषी ने कहा—कहीं गड़ा हुआ धन पा गया है। इस पर चारो ओर से उस पर बौछारें पड़ने लगीं—हाँ तुम्हारे बाप-दादा जो खजाना छोड़ गये थे, वही उसके हाथ लगा है। अरे भैया, यह धर्म की कमाई है। तुम भी तो छाती फाड़कर काम करते हो, क्यों ऐसी ऊख नहीं लगती, क्यों ऐसी फसल नहीं होती ? भगवान् आदमी का दिल देखते है। जो खर्च करना चाहता है, उसी को देते हैं।

[२]

सुजान महतो सुजान भगत हो गये। भगतों के आचार-विचार कुछ और ही होते हैं। वह बिना स्नान किये कुछ नहीं खाता। गंगाजी अगर घर से दूर हों और वह रोज स्नान करके दोपहर तक घर न लौट सकता हो, तो पर्वों के दिन तो उसे अवश्य ही नहाना चाहिए। भजन-भाव उस के घर अवश्य होना चाहिए। पूजा-अर्चा उस के लिए अनिवार्य है। खान-पान में भी उसे बहुत विचार रखना पडता है। सबसे बड़ी बात यह है कि झूठ का त्याग करना पड़ता है। भगत झूठ नही बोल सकता। साधारण मनुष्य को अगर झूठ का दण्ड एक मिले, तो भगत को एक लाख से कम नहीं मिल सकता। अज्ञान की अवस्था में कितने ही अपराध क्षम्य हो जाते हैं। इसके लिए क्षमा नहीं, प्रायश्चित नही। या है तो बहुत कठिन। सुजान को भी अब भगतों की मर्यादा को निभाना पडा। अब तक उसका जीवन मजूर का जीवन था। उनका कोई आदर्श, कोई मर्यादा उसके सामने न थी। अब उसके जीवन मे विचार का उदय हुआ जहाँ का मार्ग काँटों से भरा हुआ है। स्वार्थ-सेवा ही पहले उसके जीवन का लक्ष्य था। इसी काँटे से वह परिस्थितियों को तौलता था। अब वह उन्हे औचित्य के काँटों पर तौलने लगा। यों कहो कि जड़-जगत् से निकल कर उसने चेतन जगत् में प्रवेश किया। उसने कुछ लेन-देन करना शुरू किया था, पर अब उसे ब्याज लेते हुए आत्मग्लानि-भी होती थी। यहां तक कि गौओं को दुहते समय उसे बछड़ों का ध्यान रहता था। कहीं बछड़ा भूखा न रह जाय नहीं तो उसका रोआँ दुःखी होगा! वह गाँव का मुखिया था; कितने ही मुक-दमों में उसने झूठी शहादतें दी थीं, कितनों से डाँड़ लेकर मामले को रफा-दफा कर दिया था। अब इन व्यापारों से घृणा होती थी। झूठ और प्रपञ्च से कोसों भागता था। पहले उसकी यह चेष्टा होती थी कि मजूरों से जितना काम लिया जा सके लो, और मजूरी जितनी कम दी जा सके दो; पर अब उसे मजूरों के काम की कम, मजूरी की चिन्ता अधिक थी—कहीं बेचारे मजूर का रोआँ न दुखी हो जाय। यही उसका सखुन-तकिया-सा

हो गया—किसी का रोआँ न दुखी हो जाय। उसके दोनों जवान बेटे बात-बात में उस पर फब्तियाँ कसते, यहाँ तक कि बुलाकी भी उसे अब कोरा भगत समझने लगी, जिसे घर के भले-बुरे से कोई प्रयोजन न था! चेतन जगत् में आकर सुजान भगत रह गये।

सुजान के हाथों मे धीरे-धीरे अधिकार छीने जाने लगे। किस खेत मे क्या बोना है, किसको क्या देना है, किससे क्या लेना है, किस भाव क्या चीज बिकी, ऐसी महत्त्वपूर्ण बात मे भी भगतजी की सलाह न ली जाती। भगत के पास कोई जाने ही न पाता। दोनों लड़के या स्वयं बुलाकी दूर ही से मामला तय कर लिया करती। गाँव भर में सुजान का मान-सम्मान बढता था, अपने घर मे घटता था; लड़के उस का सत्कार अब बहुत करते। उसे हाथ से चारपाई उठाते देख लपक कर खुद उठा लाते, उसे चिलम न भरने देते, यहाँ तक कि उसकी धोती छाँटने के लिए भी आग्रह करते थे। मगर अधिकार उसके हाथ मे न था। वह अब घर का स्वामी नहीं, मन्दिर का देवता था।

[३]

एक दिन बुलाकी ओखली मे दाल छाँट रही थी। एक भिखमंगा द्वार पर आकर चिल्लाने लगा। बुलाकी ने सोचा, दाल छाँट लूँ, तो उसे कुछ दूँ। इतने मे बड़ा लड़का—भोला—आकर बोला, 'अम्माँ, एक महात्मा द्वार पर खड़े गला फाड़ रहे हैं, कुछ दे दो। नहीं तो उस का रोआँ दुखी हो जायगा।'

बुलाकी ने उपेक्षा भाव से कहा—भगत के पाँव में क्या मेंहदी लगी है, क्यों कुछ ले जा कर नहीं दे देते; क्या मेरे चार हाथ हैं? किस-किस का रोआँ सुखी करूँ, दिन भर तो ताँता लगा रहता है!

भोला—चौपट करने पर लगे हुए हैं और क्या। अभी महँगू बेंग देने आया था। हिसाब से सात मन हुए। तौल तो पौने सात मन ही निकला। मैंने कहा—दस सेर और ला, तो आप बैठे-बैठे कहते हैं, अब इतनी दूर

कहाँ लेने जायगा। भरपाई लिख दो, नहीं तो उसका रोआँ दुखी होगा। मैंने भरपाई नहीं लिखी। दस सेर बाकी लिख दी।

बुलाकी—बहुत अच्छा किया तुमने, बकने दिया करो; दस-पाँच दफे मुँह की खायँगे तो आप ही बोलना छोड़ देंगे।

भोला—दिन-भर एक-न-एक खुचड़ निकालते रहते है। सौ-दफे कह दिया कि घर-गृहस्थी के मामले में न बोला करो; पर इनसे बिना बोले रहा ही नहीं जाता।

बुलाकी—अगर मैं जानती कि इनका यह हाल होगा तो गुरुमन्त्र न लेने देती।

भोला—भगत क्या हुए कि दीन दुनिया—दोनों से गये। सारा दिन पूजा-पाठ में ही उड़ जाता है। अभी ऐसे बूढ़े नहीं हो गये कि कोई काम न कर सकें!

बुलाकीने आपत्ति की—भोला, यह तुम्हारा अन्याय है। फावड़ा-कुदाल अब उनसे नहीं हो सकता, लेकिन कुछ-न-कुछ तो करते ही रहते है। बैलों को सानी-पानी देते है, गाय दुहाते है और भी जो कुछ हो सकता है, करते हैं।

भिक्षुक अभी तक खड़ा चिल्ला रहा था। सुजान ने जब घर मे से किसी को कुछ लाते न देखा तो उठकर अन्दर गया और कठोर स्वर मे कहा—'तुम लोगों को सुनाई नहीं देता कि द्वार पर कौन घण्टे-भर से खड़ा भीख माँग रहा है? अपना काम तो दिन-भर करना ही है, एक छन भगवान् का भी तो किया करो।'

बुलाकी—तुम तो भगवान् का काम करने को बैठे ही हो, क्या घर-भर भगवान् का ही काम करेगा।

सुजान—कहाँ आटा रक्खा है, लाओ, मै ही निकाल कर दे आऊँ। तुम राजा बन कर बैठो।

बुलाकी—आटा मैंने मर-मर कर पोसा है, अनाज दे दो। ऐसे मुड़ीसरों के लिए पहर-रात में उठ कर चक्की नही चलाती हूँ।

सुजान भण्डार-घर मे गये और एक छोटी सी छबड़ी जौ से भरे हुए निकले। जौ सेर-भर से कम न था। सुजान ने जान-बूझकर केवल बुलाकी और भोला को चिढ़ाने के लिए, भिक्षा-परम्परा का उल्लंघन किया था। तिस पर भी यह दिखाने के लिए कि छबड़ी में बहुत ज्यादा जौ नहीं है उसे चुटकी से पकड़े हुए थे। चुटकी इतना बोझ न सँभाल सकती थी। हाथ काँप रहा था। एक क्षण का विलम्ब होने से छबड़ी के हाथ से छूट जाने की सम्भावना थी, इसलिए वह जल्दी से बाहर निकल जाना चाहते थे। सहसा भोला ने छबड़ी उनके हाथ से छीन ली और त्योरियाँ बदल कर बोला—सेंत का माल नहीं है जो लुटाने चले हो! छाती फाड़-फाड़ कर काम करते है, तब दाना घर मे आता है।

सुजान ने खिसियाकर कहा—मै भी तो बैठा नहीं रहता!

भोला—भीख, भीख की तरह दी जाती है; लुटाई नहीं जाती। हम तो एक बेला खा कर दिन काटते है कि पात-पानी बना रहे और तुम्हे लुटाने की सूझती है। तुम्हें क्या मालूम घर में क्या हो रहा है।

सुजान ने इस का कोई जवाब नहीं दिया। बाहर आकर भिखारी से कह दिया—बाबा, इस समय जाओ किसी का हाथ खाली नहीं है और पेड़ के नीचे बैठ कर विचारों में मग्न हो गया। अपने ही घर में उस का यह अनादर! अभी वह अपाहिज नहीं है, हाथ-पाँव थके नहीं हैं, घर का कुछ-न कुछ काम करता ही रहता है। उस पर यह अनादर! उसी ने यह घर बनाया, यह सारी विभूति उसी के श्रम का फल है। पर अब इस घर पर उस का कोई अधिकार नहीं रहा। अब वह द्वार का कुत्ता है, पड़ा रहे और घरवाले जो रूखा-सूखा दे दें, वह खा कर पेट भर लिया करे। ऐसे जीवन को धिक्कार है! सुजान ऐसे घर में नहीं रह सकता।

सन्ध्या हो गयी थी। भोला का छोटा भाई शंकर नारियल भर कर लाया। सुजान ने नारियल दीवार से टिका कर रख दिया। धीरे-धीरे तम्बाकू जल गया। जरा देर में भोला ने चारपाई डाल दी। सुजान पेड़ के नीचे से न उठा।

कुछ देर और गुजरी। भोजन तैयार हुआ। भोला बुलाने आया। सुजान ने कहा—भूख नहीं है। बहुत मनावन करने पर भी न उठा। तब बुलाकी ने आकर कहा—खाना खाने क्यों नहीं चलते? जी तो अच्छा है?

सुजान को सबसे अधिक क्रोध बुलाकी पर था। यह भी लड़कों के साथ है! यह बैठी रही और भोला ने मेरे हाथ से अनाज छीन लिया। इस के मुँह से इतना भी न निकला कि ले जाते हैं तो ले जाने दे। लड़कों को न मालूम हो कि मैंने कितने श्रम से यह गृहस्थी जोड़ी है, पर यह तो जानती है। दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा। भादों की अँधेरी रातों मे मड़ैया लगाये जुआर की रखवाली करता था, जेठ-बैसाख की दोपहरी मे भी दम न लेता था और अब मेरा घर पर इतना अधिकार नहीं कि भीख तक दे सकूँ? माना कि भीख इतनी नहीं दी जाती लेकिन इन को तो चुप रहना चाहिए था, चाहे मैं घर मे आग ही लगा देता। कानून से भी तो मेरा कुछ होता है। मैं अपना हिस्सा नही खाता, दूसरों को खिला देता हूँ, इसमे किसी के बाप का क्या साझा! अब इस वक्त मानने आई है। इसे मैंने फूल की छड़ी से भी नहीं छुआ, नहीं तो गाँव में कौन ऐसी औरत है, जिसने खसम की लातें न खाई हों! कभी कड़ी निगाह से देखा तक नहीं। रुपये-पैसे, लेना-देना सब इसी के हाथ में दे रखा था। अब रुपया जमा कर लिये हैं, तो मुझी से घमण्ड करती है। अब इसे बेटे प्यारे है। मै तो निखट्टू लुटाऊ, घरफूँक और घोंघा हूँ। मेरी इसे क्या परवाह। तब लड़के न थे, जब बीमार पड़ी थी और मैं गोद मे उठा कर वैद्य के घर ले गया था, आज इसके बेटे हैं और यह उनकी माँ है। मैं तो बाहर का आदमी हूँ, मुझ से घर से मतलब ही क्या। बोला—'मै अब खा-पीकर क्या करूँगा, हल जोतने से रहा, फावड़ा चलाने से रहा। मुझे खिला कर दाने को क्यों खराब करोगी? रख दो, बेटे दूसरी बार खायेंगे।

बुलाकी—तुम तो जरा-जरा सी बात पर तिनक जाते हो। सच कहा है, बुढ़ापे में आदमी की बुद्धि मारी जाती है। भोला ने इतना ही तो कहा था कि इतनी भीख मत ले जाओ, या और कुछ?

सुजान—हाँ, बेचारा इतना हो कह कर रह गया। तुम्हे तो तब मजा आता जद वह ऊपर से दो-चार डंडे लगा देता। क्यों, अगर यही अभिलाषा हो तो पूरी कर लो। भोला खा चुका होगा, बुला लाओ। नहीं भोला को क्यों बुलाती हो, तुम्ही न जमा दो दो-चार हाथ! इतनी कसर है वह भी पूरी हो जाय।

बुलाकी—हाँ और क्या, यही तो नारी का धरम है। अपना भाग सराहो कि मुझ-जैसी सोधी औरत पा ली। जिस बल चाहते हो, बिठाते हो। ऐसी मुँहजोर होती, तो तुम्हारे घर में एक दिन निबाह न होता।

सुजान—हाँ भाई, वह तो मैं भी कह रहा हूँ कि तुम देवी थीं और हो। मैं तब भी राक्षस था और अब तो दैत्य हो गया हूँ। बेटे कमाऊ हैं, उनकी सो न कहोगी, तो क्या मेरो-सी कहोगी, मुझसे अब क्या लेना-देना है!

बुलाकी—तुम झगडा करने पर तुले हो और मैं झगड़ा बचाती हूँ कि चार आदमी हँसेगे। चल कर खाना खा लो सीधे से, नही तो मै भी जाकर सो रहूँगी।

सुजान—तुम भूखी क्यों सो रही हो, तुम्हारे बेटों की कमाई है, हाँ, मैं बाहरी हूँ।

बुलाकी—बेटे तुम्हारे भी तो हैं।

सुजान—नहीं, मैं ऐसे बेटों से बाज आया। किसी और के बेटे होंगे। मेरे बेटे होते तो क्या यह दुर्गति होती?

बुलाकी—गालियाँ दोगे, तो मैं भी कुछ कह बैठूँगी। सुनती थी मर्द बड़े समझदार होते हैं; पर तुम सबसे न्यारे हो। आदमी को चाहिये कि जैसा समय देखे वैसा काम करे। अब हमारा और तुम्हारा निबाह इसी मे है कि नाम के मालिक बने रहें और वही करें जो लड़कों को अच्छा लगे। मैं यह बात समझ गई, तुम क्यों नहीं समझ पाते? जो कमाता है, उसी का घर में राज होता है, यही दुनिया का दस्तूर है। मैं बिना लड़कों

से पूछे कोई काम नहीं करती, तुम क्यों अपने मन की करते हो ? आधी रोटी खाओ, भगवान् का भजन करो और पड़े रहो। चलो, खाना खा लो।

सुजान—अब मैं द्वार का कुत्ता हूँ।

बुलाकी—बात जो थी, वह मैंने कह दी, अब आप अपने को जो चाहे समझो। सुजान न उठे। बुलाकी हार कर चली गई।

सुजान के सामने अब एक नयी समस्या खड़ी हो गयी थी। वह बहुत दिनों से घर का स्वामी था और अब भी ऐसा ही समझता था। परिस्थिति मे कितना उलट-फेर हो गया था, इसकी उसे खबर न थी। लड़के उसका सेवा-सम्मान करते थे, यह बात उसे भ्रम मे डाले हुई थी। लड़के उसके सामने चिलम नहीं पीते, खाट पर नहीं बैठते, क्या यह सब उसके गृह-स्वामी होने का प्रमाण न था ? पर आज उसे ज्ञात हुआ कि यह केवल श्रद्धा थी; उसके स्वामित्व का प्रमाण नहीं। क्या इस श्रद्धा के बदले वह अपना अधिकार छोड़ सकता था ? कदापि नहीं। अब तक जिस घर मे राज्य किया, उसी घर में पराधीन बनकर वह नहीं रह सकता। उसको श्रद्धा की चाह नहीं, सेवा की भूख नहीं। उसे अधिकार चाहिए। वह इस घर पर दूसरों का अधिकार नहीं देख सकता। मन्दिर का पुजारी बन कर नहीं रह सकता।

न जाने कितनी रात बाकी थी। सुजान ने उठ कर गँड़ासे से बैलों का चारा काटना शुरू किया। सारा गाँव सोता था, पर सुजान करबी काट रहे थे। इतना श्रम उन्होंने अपने जीवन मे कभी न किया था जब से उन्होंने काम करना छोड़ा था, बराबर चारे के लिए हाय-हाय पड़ी रहती थी। भोला भी काटता था, शंकर भी काटता था, पर चारा पूरा न पड़ता था। आज वह इन लौंडों को दिखा देंगे, चारा कैसे काटना चाहिए। उनके सामने कटिया का पहाड़ खड़ा हो गया और टुकड़े कितने महीन और सुडौल थे, मानों साँचे में ढाले गये हों !

मुँह-अँधेरे में बुलाकी उठी, तो कटिया का ढेर देखकर दंग रह गई। बोली—क्या भोला आज रात भर कटिया ही काटता रह गया ? कितना

कहा कि बेटा, जो से जहान है; पर मानता नहीं। रात को सोया ही नहीं।

सुजान भगत ने ताने से कहा—वह सोता ही कब है। जब देखता हूँ, तब काम ही करता रहता है। ऐसा कमाऊ संसार में और कौन होगा!

इतने मे भोला आँखें मलता हुआ बाहर निकला। उसे भी यह ढेर देखकर आश्चर्य हुआ। माँ से बोला—क्या शंकर आज बड़ी रात को उठा था, अम्माँ?

बुलाकी—वह तो पड़ा सो रहा है। मैंने समझा तुमने काटी होगी।

भोला—मैं तो सबेरे उठ ही नहीं पाता। दिन भर चाहे जितना काम कर लूँ; रात को मुझसे नहीं उठा जाता।

बुलाकी—तो क्या तुम्हारे दादा ने काटी है?

भोला—हाँ, मालूम होता है रात-भर सोये नहीं। मुझसे कल बड़ी भूल हुई। अरे, वह तो हल ले कर जा रहे है, जान देने पर उतारू हो गये हैं क्या?

बुलाकी—क्रोधी तो सदा के है। अब किसी की सुनेगे थोड़े ही।

भोला—शंकर को जगा दो, मै जल्दी से मुँह हाथ धो कर हल ले जाऊँ।

जब और किसानों के साथ भोला हल लेकर खेत में पहुँचा, तो सुजान आधा खेत जोत चुके थे। भोला ने चुपके से काम शुरू किया। सुजान से बोलने की उसकी हिम्मत न पड़ी।

दोपहर हुआ। सभी किसानों ने हल छोड़ दिये; पर सुजान भगत अपने काम में मग्न हैं। भोला थक गया है। उसकी बार-बार इच्छा होती कि बैलों को खोल दे, मगर डर के मारे कुछ कह नहीं सकता। उसको आश्चर्य हो रहा है कि दादा कैसे इतनी मेहनत कर रहे हैं।

आखिर डरते-डरते बोला—दादा, अब तो दोपहर हो गयी, हल खोल दें न?

सुजान—हाँ खोल दो। तुम बैलों को लेकर चलो, मै डाँड़ फेंक कर आता हूँ।

भोला—मैं संझा को डाँड़ फेंक दूँगा।

सुजान—तुम क्या फेंक दोगे। देखते नहीं हो, खेत खटोरे की तरह गहरा हो गया है। तभी तो बीज में पानी जम जाता है। इस गोइँड़ के खेत मे बीस मन का बीघा होता था। तुम लोगों ने इसका सत्यानाश कर दिया।

बैल खोल दिये गये। भोला बैलों को लेकर घर चला; पर सुजान डाँड़ फेंकते रहे। आधा घण्टे बाद डाँड़ फेंक कर वह घर आये; मगर थकान का नाम न था। नहा-खाकर आराम करने के बदले उन्होंने बैलों को सुहलाना शुरू किया। उनकी पीठ पर हाथ फेरा, उनके पैर मले, पूँछ सुहलाई। बैलों की पूँछे खड़ी थीं। सुजान की गोद में सिर रखे उन्हे अकथनीय सुख मिल रहा था। बहुत दिनों के बाद आज उन्हें यह आनन्द प्राप्त हुआ। उनकी आँखों में कृतज्ञता भरी हुई थी। मानों वे कह रहे थे, हम तुम्हारे साथ रात-दिन काम करने को तैयार हैं।

अन्य कृषकों की भाँति भोला अभी कमर सीधी कर रहा था कि सुजान ने फिर हल उठाया और खेत की ओर चले। दोनों बैल उमंग से भरे दौड़े चले जाते थे, मानों उन्हें स्वयं खेत में पहुँचने की जल्दी थी।

भोला ने मड़ैया में लेटे-लेटे पिता को हल लिये जाते देखा; पर उठ न सका। उनकी हिम्मत छूट गई। उसने कभी इतना परिश्रम न किया था। उसे बनी बनाई गिरस्ती मिल गई थी। उसे ज्यों-त्यों चला रहा था। इन दामों वह घर का स्वामी बनने का इच्छुक न था। जवान आदमी को बीस धन्धे होते है। हँसने-बोलने के लिये, गाने-बजाने के लिए उसे कुछ समय चाहिए। पड़ोस के गाँव में दंगल हो रहा है। जवान आदमी कैसे अपने को वहाँ जाने से रोकेगा? किसी गाँव से बारात आई है; नाच-गाना हो रहा है। जवान आदमी क्यों उसके आनन्द से वंचित रह सकता है?

वृद्धजनों के लिए ये बाधाएँ नहीं। उन्हें न नाच-गाने से मतलब, न खेल-तमाशे से गरज; केवल अपने काम से काम है।

बुलाकी ने कहा—भोला, तुम्हारे दादा हल लेकर गये।

भोला—जाने दो अम्माँ, मुझसे तो यह नहीं हो सकता।

[४]

सुजान भगत के उस नवीन उत्साह पर गाँव में टीकाएँ हुईं—निकल गई सारी भगती। बना हुआ था। माया में फँसा हुआ है, आदमी काहे को, भूत है।

मगर भगतजी के द्वार पर अब फिर साधु-सन्त आसन जमाये देखे जाते हैं। उनका आदर-सम्मान होता है। अबकी उसकी खेती ने सोना उगल दिया है। बखारी में अनाज रखने की जगह नहीं मिलती। जिस खेत में पाँच मन मुश्किल से होता था, उसी खेत में अबकी दस मन की उपज हुई है।

चैत का महीना था। खलिहान में सतयुग का राज था। जगह-जगह अनाज के ढेर लगे हुए थे। यही समय है जब कृषकों को भी थोड़ी देर के लिए अपना जीवन सफल मालूम होता है, तब गर्व से उनका हृदय उछलने लगता है। सुजान भगत टोकरों में अनाज भर-भर देते थे और दोनों लड़के टोकरे लेकर घर में अनाज रख आते थे। कितने ही भाट और भिक्षुक भगतजी को घेरे हुए थे। उनमें वह भिक्षुक भी था, जो आज से आठ महीने पहले भगत के द्वार से निराश होकर लौट गया था।

सहसा भगत ने भिक्षुक से पूछा—क्यों बाबा, आज कहाँ-कहाँ चक्कर लगा आये?

भिक्षुक—अभी तो कहीं नहीं गया भगतजी, पहले तुम्हारे ही पास आया हूँ।

भगत—अच्छा, तुम्हारे सामने यह ढेर है। इसमें से जितना अनाज उठा कर ले जा सको, ले जाओ।

भिक्षुक ने लुब्ध नेत्रों से ढेर को देखकर कहा—जितना अपने हाथ से उठा कर दोगे, उतना ही लूँगा।

भगत—नहीं, तुमसे जितना उठ सके उठा लो।

भिक्षुक के पास एक चादर थी। उसने कोई दस सेर अनाज उसमें भरा और उठाने लगा। संकोच के मारे और अधिक भरने का उसे साहस न हुआ।

भगत ऊसके मन का घाव समझ कर आश्वासन देते हुए बोले—बस! इतना तो एक बच्चा ले जायगा।

भिक्षुक ने भोला की ओर संदिग्ध नेत्रों से देखकर कहा—मेरे लिए इतना बहुत है।

भगत—नहीं, तुम सकुचाते हो, अभी और भरो।

भिक्षुक ने एक पसेरी अनाज और भरा फिर भोला की ओर सशंक दृष्टि से देखने लगा।

भगत—उसकी ओर क्या देखते हो बाबाजी, मैं जो कहता हूँ, वह करो। तुमसे जितना उठाया जा सके, उठा लो।

भिक्षुक डर गया था कि कहीं उसने अनाज भर लिया और भोला ने गठरी उठाने न दी, तो कितनी भद्द होगी। और भिक्षुकों को हँसने का अवसर मिल जायगा। सब यही कहेगे कि यह भिक्षुक कितना लोभी है! उसे और अनाज भरने की हिम्मत न पड़ी।

तब सुजान भगत ने चादर लेकर उसमें अनाज भरा और गठरी बाँध कर बोले—इसे उठा ले जाओ।

भिक्षुक—बाबा, इतना तो मुझसे न उठ सकेगा।

भगत—अरे! इतना भी न उठ सकेगा! बहुत होता तो मन भर। भला जोर तो लगाओ, देखूँ, उठा सकते हो या नहीं।

भिक्षुक ने गठरी आजमायी। भारी थी। जगह से हिली भी नहीं। बोला—भगतजी, यह मुझसे न उठेगी।

भगत—अच्छा बताओ, किस गाँव में रहते हो ?

भिक्षुक—बड़ी दूर है भगतजी, अमोला का नाम तो सुना होगा।

भगत—अच्छा, आगे-आगे चलो, मैं पहुँचा दूँगा।

यह कहकर भगत ने जोर लगा कर गठरी उठाई और सिर पर रखकर भिक्षुक के पीछे हो लिये। देखनेवाले भगत का यह पौरुष देखकर चकित हो गये। उन्हें क्या मालूम था कि भगत पर इस समय कौन-सा नशा था। आठ महीने के निरन्तर अविरल परिश्रम का आज उन्हें फल मिला था। आज उन्होंने अपना खोया हुआ अधिकार पाया था। वही तलवार जो केले को भी नहीं काट सकती, सान पर चढ़ा कर लोहे को काट देती है। मानव-जीवन में लाग बड़े महत्त्व की वस्तु है। जिसमें लाग है, वह बूढ़ा भी हो, तो जवान है; जिसमें लाग है नहीं, गैरत नहीं, वह जवान भी हो, तो मृतक है। सुजान भगत में लगन थी और उसी ने उन्हें अमानुषीय बल प्रदान कर दिया था। चलते समय उन्होंने भोला की ओर सगर्व नेत्रों से देखा और बोले—ये भाट और भिक्षुक खड़े है, कोई खाली हाथ न लौटने पाये।

भोला सिर झुकाये खड़ा था। उसे कुछ बोलने का हौसला न हुआ। वृद्धि पिता ने उसे परास्त कर दिया था।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

[जन्म—सन् १८९१ ई०]

[निधन— सन् १९४५ ई०]

कौशिकजी का जन्म अम्बाला छावनी के एक सामान्य गौड़ वंश में फौज के स्टोरकीपर के घर मे हुआ था। आपको एक निःसन्तान बाबाजी ने गोद ले लिया था और ४ वर्ष की आयु मे ही उनके साथ आप कानपुर चले आये। आप के अभिभावक वकील थे। मैट्रिक तक आपको शिक्षा मिली। फारसी, हिन्दी, उर्दू तथा संस्कृत के आप ज्ञाता थे। उर्दू मे 'साग़िब' नाम से पहले शायरी करते थे। फिर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से सन् १९११ ई० से हिन्दी में लिखने लगे। उनकी पहिली कहानी 'रक्षा बन्धन' सन् १९१२ ई० में छपी। आप हास्यरस के भी अच्छे लेखक थे। आप हास्यरस के लेख विजयानन्द दूबे के नाम मे लिखा करते थे। हास्यरस के कुछ पत्रों का प्रकाशन 'दूबे जी की चिट्ठी' नाम से हुआ है। आपने बंगला से हिन्दी में अनुवाद-कार्य भी किया। आपने उपन्यास भी लिखे। आप घरेलू जीवन की मार्मिक कहानियाँ लिखने में सिद्धहस्त थे। आप कथा-साहित्य में आदर्शोन्मुखी यथार्थ के प्रतिष्ठापकों में से माने जाते हैं।

[पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की यह कहानी सन् १९१२ ई० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। इस कहानो से हमें उस समय के हिन्दी के कहानी साहित्य की कलात्मक विकास-स्थिति का पता चलता है।

कथनोपकथन-प्रधान शैली मे समस्त कहानी का संगठन कर पारिवारिक स्नेह-सम्बन्ध का सफल मर्म-उद्घाटन कहानी में किया गया है। यद्यपि भारतीय जीवन के एक करुण पक्ष भाई के अभाव को उपस्थिति से कहानी का प्रारम्भ होता है, तो भी इसका चरम विकास आनन्दमूलक है। इस कहानी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि परस्पर वार्त्ता के आधार पर ही सम्पूर्ण कहानी मे ऐसा सुन्दर रंग भरा गया है कि इसे इस शैली की प्रतिनिधि कहानियों में रखा जा सकता है। वस्तु-विषय की दृष्टि से भी यह कहानी पारिवारिक जोवन के मंगल-विधायक सूत्रों में से एक भाई-बहन के स्नेह-सम्बन्ध की प्रतिष्ठापिका है।]

'माँ ! मैं भी राखी बाँधूँगी।'

श्रावण की धूम-धाम है। नगरवासी स्त्री-पुरुष बड़े आनन्द तथा उत्साह से श्रावणी का उत्सव मना रहे हैं। बहनें भाइयों के और ब्राह्मण अपने यजमानों को राखियाँ बाँध-बाँध कर चाँदी कर रहे हैं। ऐसे ही समय एक छोटे से घर में एक दस वर्ष की बालिका ने अपनी माता से कहा—माँ, मैं भी राखी बाँधूँगी।

उत्तर में माता ने एक ठंढी साँस भरी और कहा—किसके बाँधेगी बेटी—आज तेरा भाई होता तो....!

माता आगे कुछ न कह सकी। उसका गला रुँध गया और नेत्र अश्रु-पूर्ण हो गये।

अबोध बालिका ने अठला कर कहा——तो क्या भइया ही के राखी बाँधी जाती है और किसी के नहीं? भइया नही है तो अम्माँ, मैं तुम्हारे ही राखी बाँधूँगी।

इस दुःख के समय भी पुत्री की बात सुन कर माता मुस्कराने लगी और बोली—अरी तू इतनी बड़ी हो गई——भला कहीं माँ के भी राखी बांधी जाती है।

बालिका ने कहा——वाह, जो पैसा दे उसी को राखी बाँधी जाती है।

माता—अरी कंगालो! पैसे पर नहीं—भाई ही को राखी बाँधी जाती है।

बालिका उदास हो गई।

माता घर का काम-काज करने लगी। घर का काम शेष करके उसने पुत्री से कहा—आ तुझे न्हिला (नहला) दूँ।

बालिक मुख गम्भीर करके बोली—मैं नहीं नहाऊँगी।

माता—क्यों, नहावेगीं क्यों नहीं?

बालिका—मुझे क्या किसी के राखी बाँधनी है ?

माता—अरी राखी नहीं बाँधनी है तो क्या नहावेगी भी नहीं। आज त्योहार का दिन हैं। चल उठ नहा।

बालिका—राखी नहीं बाँधूँगी तो तिवहार काहे का ?

माता—(कुछ क्रुद्ध होकर) अरी कुछ सिड़न हो गई है। राखी-राखी रट लगा रही है। बड़ी राखी बाँधनेवाली बनी है। ऐसी ही होती तो आज यह दिन देखना पड़ता। पैदा होते ही बाप को खा बैठी। ढाई बरस की होते-होते भाई से घर छुड़ा दिया। तेरे ही कर्मों से सब नास (नाश) हो गया।

बालिका बड़ी अप्रतिभ हुई और आँखों मे आँसू भरे हुए चुपचाप नहाने को उठ खड़ी हुई।

:o: :o: :o: :o:

एक घंटा पश्चात् हम उसी बालिका को उसके घर के द्वार पर खड़ीं देखते है। इस समय भी उसके सुंदर मुख पर उदासी विद्यमान है। अब भी उसके बड़े-बड़े नेत्रों में पानी छलछला रहा है।

परन्तु बालिका इस समय द्वार पर क्यों ? जान पड़ता है, वहीं किसी कार्यवश खड़ी है, क्योंकि उसके द्वार के सामने से जब कोई निकलता है, तब वह बड़ी उत्सुकता से उसकी ओर ताकने लगती है। मानो वह मुख से कुछ कहे बिना केवल इच्छा-शक्ति से, उस पुरुष का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करती थी; परन्तु जब उसे इसमे सफलता नहीं होती, तब उसकी उदासी बढ जाती है।

इसी प्रकार एक, दो, तीन करके कई पुरुष, बिना उसकी ओर देखे निकल गये।

अन्त में बालिका निराश होकर घर के भीतर लौट जाने को उद्यत ही हुई थी कि एक सुन्दर युवक की दृष्टि, जो कुछ सोचता हुआ धीरे-धीरे जा रहा था, बालिका पर पड़ी। बालिका की आँखें युवक की आँखों से जा लगीं। न जाने उन उदास तथा करुणा पूर्ण नेत्रों में क्या जादू भरा था कि युवक ठिठक कर खड़ा हो गया और बड़े ध्यान से सिर से पैर तक देखने लगा। ध्यान से देखने पर युवक को ज्ञात हुआ कि बालिका की

आँखें अश्रुपूर्ण है। तब वह अधीर हो उठा। निकट जा कर पूछा—बेटी, क्यों रोती हो ?

बालिका इसका कुछ उत्तर न दे सकी। परन्तु उसने अपना एक हाथ युवक की ओर बढ़ा दिया। युवक ने देखा, बालिका के हाथ मे एक लाल डोरा है। उसने पूछा—यह क्या है ? बालिका ने आँखें नीचे करके उत्तर दिया—राखी ! युवक समझ गया। उसने मुस्कराकर अपना दाहिना हाथ आगे बढा दिया।

बालिका का मुख-कमल खिल उठा। उसने बड़े चाव से युवक के हाथ मे राँखी बाँध दी।

राखी बँधवा चुकने पर युवक ने जेब मे हाथ डाला और दो रुपये निकाल कर बालिका को देने लगा। परन्तु बालिका ने उन्हे लेना स्वीकार न किया। बोली—नहीं, पैसे दो।

युवक—ये पैसे से भी अच्छे है।

बालिका—नहीं, मैं पैसे लूँगी, यह नही।

युवक—ले लो बिटिया। इसके पैसे मंगा लेना। बहुत-से मिलेगे।

बालिका—नहीं, पैसे दो।

युवक ने चार आने पैसे निकाल कर कहा—'अच्छा पैसे भी ले और यह भी ले। तुझे दोनों लेने पड़ेंगे'—यह कहकह युवक ने बलपूर्वक पैसे तथा रुपये बालिका के हाथ पर रख दिये।

इतने में घर के भीतर से किसी ने पुकारा—अरी सरसुती (सरस्वती) कहाँ गई ?

बालिका ने—आई ! कह कर युवक की ओर कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि डाली और चली गई।

[२]

गोलागञ्ज (लखनऊ) की एक बड़ी तथा सुन्दर अट्टालिका के एक सुसज्जित कमरे में एक युवक चिंता सागर मे निमग्न बैठा है। कभी वह ठण्डी साँसें भरता है; कभी रूमाल से आँखें पोंछता है; कभी आप ही

आप कहता है—हा सारा परिश्रम व्यर्थ गया। सारी चेष्टाएँ निष्फल हुई। क्या करूँ। कहाँ जाऊँ। उन्हे कहाँ ढूँढूँ। सारा उन्नाव छान डाला। परन्तु फिर भी पता न लगा। युवक आगे कुछ और कहने को था कि कमरे का द्वार धीरे-धीरे खुला और एक नौकर अन्दर आया।

युवक ने विरक्त होकर पूछा—क्यों, क्या है ?

नौकर—सरकार अमरनाथ बाबू आये है ?

युवक—(सँभल कर) अच्छा यही भेज दो।

नौकर के चले जाने पर युवक ने रूमाल से आँखें पोंछ डालीं और मुख पर गम्भीरता लाने की चेष्टा करने लगा।

द्वार फिर खुला और एक युवक अन्दर आया।

युवक—आओ भाई अमरनाथ !

अमरनाथ—कहो घनश्याम, आज अकेले कैसे बैठे हो? कानपुर से कब लौटे?

घनश्याम—कल आया था।

अमरनाथ—उन्नाव भी अवश्य ही उतरे होगे ?

घनश्याम—(एक ठंडी साँस लेकर) हाँ उतरा था। परन्तु व्यर्थ। वहाँ अब मेरा क्या रखा है ?

अमरनाथ—परन्तु करोगे क्या। हृदय नहीं मानता है—क्यों ? और सच पूछो तो बात ही ऐसी है। यदि तुम्हारे स्थान पर मै होता तो मैं भी ऐसा ही करता।

घनश्याम—क्या कहूँ मित्र, मै तो हार गया। तुम तो जानते ही हो कि मुझे लखनऊ आकर रहते एक वर्ष हो गया और जब से यहाँ आया हूँ उन्हें ढूँढ़ने मे कुछ भी कसर उठा नहीं रखी, परन्तु सब व्यर्थ।

अमरनाथ—उन्होंने उन्नाव न जाने क्यों छोड़ दिया और कब छोड़ा—इसका भी कोई पता नहीं चलता।

घनश्याम—इसका तो पता चल गया न, कि वे लोग मेरे चले जाने के एक वर्ष पश्चात् उन्नाव से चले गये परन्तु कहाँ गये, यह नहीं मालूम।

अमरनाथ—यह किससे मालूम हुआ ?

घनश्याम—उसी मकानवाले से जिसके मकान में हम लोग रहते थे।

अमरनाथ—हा शोक !

घनश्याम—कुछ नहीं यह सब मेरे ही कर्मों का फल है। यदि मै उन्हे छोड़कर न जाता; यदि गया था तो उनकी खोज खबर लेता रहता। परन्तु मै तो दक्षिण जाकर रुपया कमाने मे इतना व्यस्त रहा कि कभी याद ही न आई। और जो आई भी तो क्षणभाव के लिए। उफ, कोई भी अपने घर को भूल जाता है। मैं ही ऐसा अधम—

अमरनाथ—(बात काट कर) अजी नहीं, सब समय की बात है।

घनश्याम—मै दक्षिण न जाता तो अच्छा था।

अमरनाथ—तुम्हारा दक्षिण जाना तो व्यर्थ नहीं हुआ। यदि न जाते तो इतना धन....।

घनश्याम—अभी चूल्हें में जाय धन ! ऐसा धन किस काम का। मेरे हृदय में सुख-शान्ति नहीं, तो धन किस मर्ज की दवा है।

अमरनाथ—ऐं, यह हाथ मे लाल डोरा क्यों बाँधा है ?

घनश्याम—इसकी तो बात भूल गया। यह राखी है।

अमरनाथ—वाह भाई, अच्छी राखी है। लाल डोरे की राखी बताते हो। यह किसने बाँधी है। किसी बड़े कंजूस ब्राह्मण ने बाँधी होगी। दुष्ट ने एक पैसा तक खरचना पाप समझा। डोरे ही से काम निकाला।

घनश्याम—संसार में यदि कोई बढ़िया-से-बढ़िया राखी बन सकती है तो मुझे उससे भी कहीं अधिक प्यारा यह लाल डोरा है।—यह कह कर घनश्याम ने उसे खोलकर बड़े यत्नपूर्वक अपने बक्स मे रख लिया।

अमरनाथ—भाई, तुम भी विचित्र मनुष्य हो। आखिर यह डोरा बाँधा किसने है ?

घनश्याम—एक बालिका ने।

पाठक समझ गये होंगे कि घनश्याम कौन है।

अमरनाथ—बालिका ने कैसे बाँधा और कहाँ ?

घनश्याम—कानपुर में।

घनश्याम ने सारी घटना कह सुनाई।

अमरनाथ—यदि यह बात हैं तो सत्य ही यह डोरा अमूल्य है।

घनश्याम—न जाने क्यों, उस बालिका का ध्यान मेरे मन से नहीं उतरता।

अमरनाथ—उसकी सरलता तथा प्रेम ने तुम्हारे हृदय पर प्रभाव डाला है। भला उसका नाम क्या है?

घनश्याम—नाम तो मुझे नहीं मालूम। भीतर से किसी ने उसका नाम लेकर पुकारा। परन्तु मैं सुन न सका।

अमरनाथ—अच्छा, खैर! अब तुमने क्या करना विचारा है?

घनश्याम—धैर्य धर कर चुपचाप बैठने के अतिरिक्त और मैं कर ही क्या सकता हूँ। मुझसे जो हो सका, मैं कर चुका।

अमरनाथ—हाँ, यही ठीक भी है। ईश्वर पर छोड़ दो! देखो क्या होता है?

[३]

पूर्वोक्त घटना हुए पाँच वर्ष व्यतीत हो गये? घनश्यामदास पिछली बातें प्रायः भूल गये। परन्तु उस बालिका की याद कभी-कभी आ जाती है। उसे देखने वे एक बार कानपुर गये भी थे। परन्तु उसका पता न चला। उस घर में पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह वहाँ से, अपनी माता सहित, बहुत दिन हुए, न जाने कहाँ चली गई। इसके पश्चात् ज्यों-ज्यों समय बीतता गया उसका ध्यान भी कम होता गया। पर अब भी जब वे अपना बक्स खोलते है तब कोई वस्तु देख कर चौंक पड़ते हैं और साथ ही कोई पुराना दृश्य आँखों के सामने आ जाता है।

घनश्याम अभी तक अविवाहित हैं। पहले तो उन्होंने निश्चय कर लिया था कि वह विवाह करेंगे ही नहीं। पर मित्रों के कहने और स्वयं अपने अनुभव ने उनका विचार बदल दिया। अब वे विवाह करने को तैयार हैं। परन्तु अभी तक कोई कन्या उनकी रुचि के अनुसार नहीं मिली!

जेठ का महीना है दिन भर की जला देनेवाली धूप के पश्चात् सूर्यास्त का समय अत्यन्त सुखदायी प्रतीत हो रहा है। इस समय घनश्यामदास अपनी कोठी के बाग में मित्रों सहित बैठे मन्द-मन्द शीतल वायु का आनन्द

ले रहे हैं। आपस में हास्यरस-पूर्ण बाते हो रही हैं। बातें करते-करते एक मित्र ने कहा—अजी अभी तक अमरनाथ नहीं आये ?

घनश्याम—वह मनमौजी आदमी है। कहीं रम गया होगा।

दूसरा—नहीं रम नहीं, वह आजकल तुम्हारे लिए दुलहन ढूढ़ँने की चिन्ता में रहता है।

घनश्याम—बड़े दिल्लगीबाज हो।

दूसरा—नहीं, दिल्लगी की बात नहीं।

तीसरा—हाँ परसों मुझसे भी वह कहता था कि घनश्याम का विवाह हो जाय तो मुझे चैन पड़े।

ये बातें हो ही रही थीं कि अमरनाथ लपकते हुए आ पहुँचे।

घनश्याम—आओ यार, बड़ी उमर है—अभी तुम्हारी याद हो रही थी।

दूसरा—जान पड़ता है, कहीं से पिट कर आये हो।

अमरनाथ—तू फिर बोला, क्यों ?

दूसरा—क्यों, बोलना किसी के हाथ क्या बेच खाया है ?

अमरनाथ—अच्छा, दिल्लगी छोड़ो एक आवश्यक बात है।

सब उत्सुक होकर बोले—कहो-कहो, क्या बात है ?

अमरनाथ—(घनश्याम से) तुम्हारे लिए दुलहन ढूँढ़ ली है।

सब—(एक स्वर ने) फिर क्या तुम्हारी चाँदी है।

अमरनाथ—फिर वही दिल्लगी, यार तुम लोग अजीब आदमी हो।

तीसरा—अच्छा बताओ, कहाँ ढूँढ़ी ?

अमरनाथ—यहीं लखनऊ में।

दूसरा—लड़की का पिता क्या करता है ?

अमरनाथ—पिता तो स्वर्गवास करता है।

तीसरा—यह बुरी बात है।

अमरनाथ—लड़की है और उसकी माँ। बस, तीसरा कोई नहो। विवाह में कुछ मिलेगा भी नहीं। लड़की की माता बड़ी गरीब है।

दूसरा—यह उससे भी बुरी बात है।

तीसरा---उल्लू मर गये, पट्ठे छोड़ गये। घर भी ढूंढा तो गरीब। कहाँ हमारे घनश्याम इतने धनाढय और कहाँ ससुराल इतनी दरिद्र! लोग क्या कहेंगे?

अमरनाथ---अरे भाई, कहने और न कहनेवाले हमीं-तुम हैं। और यहाँ उनका कौन बैठा है जो कहेगा।

घनश्याम ने ठण्डी साँस ली।

तीसरा---आपने क्या भलाई देखी जो यह सम्बन्ध करना विचारा है।

अमरनाथ---लड़की की भलाई। लड़की लक्ष्मी-रूपा है। जैसी सुन्दर वैसी ही सरल। ऐसी लड़की यदि दीपक लेकर ढूँढी जाय तो भी कदाचित् ही मिले।

दूसरा---हाँ, यह अवश्य एक बात है।

अमरनाथ---परन्तु लड़की की माता लड़का देखकर विवाह करने को कहती है।

तीसरा---यह तो व्यवहार की बात है।

घनश्याम---और, मैं भी लड़की देखकर विवाह करूँगा।

दूसरा---यह भी ठीक ही है।

अमरनाथ---तो इसके लिए क्या विचार है?

तीसरा---विचार क्या, लड़की देखेंगे।

अमरनाथ---तो कब?

घनश्याम---कल?

[४]

दूसरे दिन शाम को घनश्याम और अमरनाथ गाड़ी पर सवार होकर लड़की देखने चले। गाड़ी से उतर कर दोनों मित्र गली में घुसे। लगभग सौ कदम चलकर अमरनाथ एक छोटे-से मकान के सामने खड़े हो गये और मकान का द्वार खटखटाया।

घनश्याम बोले---मकान देखने से तो बड़े गरीब जान पड़ते हैं।

अमरनाथ---हाँ, बात तो ऐसी ही है, परन्तु यदि लड़की तुम्हारे पसन्द आ जाय तो यह सब सहन किया जा सकता है।

इतने में द्वार खुला और दोनों भीतर गये। सन्ध्या हो जाने के कारण मकान में अँधेरा हो गया था। अतएव ये लोग द्वार खोलनेवाले को स्पष्ट न देख सके।

एक दालान मे पहुँचने पर ये दोनों चारपाई पर बिठा दिये गये और बैठानेवाली ने जो स्त्री थी, कहा—मै जरा दिया जला लूँ।

अमरनाथ—हाँ, जला लो।

स्त्री ने दीपक जलाया और पास ही एक दीवार पर उसे रख दिया; फिर उनकी ओर मुख करके वह नीचे चटाई पर बैठ गई। परन्तु ज्यों ही उसने घनश्याम पर अपनी दृष्टि डाली—एक हृदय भेदी आह उसके मुख से निकली—और वह ज्ञान-शून्य होकर गिर पडी।

स्त्री की ओर कुछ अँधेरा था, इस कारण उन लोगों को उसका मुख स्पष्ट न दिखायी पड़ता था। घनश्याम उसे उठाने को उठे। परन्तु ज्यों ही के मुख से निकला—'मेरी माता!'—और उसकर वे भूमि पर बैठ गये।

अमरनाथ विस्मित हो काष्ठवत् बैठे रहे। अन्त को कुछ क्षण उपरान्त बोले—उफ, ईश्वर की महिमा बड़ी विचित्र है। जिनके लिये तुमने न जाने कहाँ-कहाँ की ठोकरें खायीं वे अन्त को इस प्रकार मिले।

घनश्याम अपने को सम्हाल कर बोले—थोड़ा पानी मंगाओ।

अमरनाथ—किससे मँगाऊँ। यहाँ तो कोई और दिखाई ही नही पड़ता। परन्तु हाँ, वह लड़की तुम्हारी—कहते अमरनाथ रुक गया। फिर उन्होंने पुकारा—बिटिया, थोड़ा पानी दे जाओ।—परन्तु कोई उत्तर न मिला।

अमरनाथ ने फिर पुकारा—'बेटी, तुम्हारी माँ अचेत हो गयी है। थोड़ा पानी दे जाओ।'

इस 'अचेत' शब्द में न जाने क्या बात थी कि तुरन्त ही घर के दूसरी ओर बरतन खड़कने का शब्द हुआ। तत्पश्चात् एक पूर्णवयस्का लड़की लोटा लिये आयी। लड़की मुँह कुछ ढँके हुए थी। अमरनाथ ने पानी लेकर घनश्याम की माता की आँखें तथा मुख धो दिया। थोड़ी देर में उसे होश आया। उसने आँखें खोलते ही फिर घनश्याम को देखा। तब वह शीघ्रता

से उठकर बैठ गई और बोली—ऐं, मैं क्या स्वप्न देख रही हूँ? घन-श्याम क्या तू मेरा खोया हुआ घनश्याम है ? या कोई और ?

माता ने पुत्र को उठाकर छाती से लगा लिया और अश्रुविन्दु विसर्जन किये। परन्तु वे विन्दु सुख के थे अथवा दुख के कौन कहे ?

लड़की ने यह सब देख-सुनकर अपना मुँह खोल दिया और 'भैया-भैया !' कहती हुई घनश्याम से लिपट गई। घनश्याम ने देखा—लड़की कोई और नहीं, वही बालिका है, जिसने पाँच वर्ष पूर्व उनको राखी बाँधी थी और जिसकी याद प्रायः उनको आया करती थी।

:o: :o: :o: :o:

श्रावण का महीना है और श्रावणी का महोत्सव। घनश्यामदास की कोठी खूब सजाई गयी है। घनश्याम अपने कमरे मे बैठे एक पुस्तक पढ़ रहे हैं। इतने मे एक दासी ने आकर कहा—बाबू भीतर चलो। घन-श्याम भीतर गये। माता ने उन्हे एक आसन पर बिठाया और उनकी भगिनी सरस्वती ने उनके तिलक लगाकर राखी बाँधी। घनश्याम ने दो असर्फियाँ उसके हाथ में धर दीं और मुस्कराकर बोले—क्या पैसे भी देने होंगे ?

सरस्वती ने हँसकर कहा—नहीं भैया, ये अशर्फियाँ पैसों से अच्छी है। इनसे बहुत से पैसे आवेंगे।

अन्नपूर्णानन्द

[जन्म—सन् १८९५ ई०]

आप माननीय सम्पूर्णानन्द जी के अनुज हैं। आरम्भ में आप अध्यापक रहे। इसके पश्चात् सेवा-उपवन तया ज्ञान-मंडल में भी अपने कुछ दिनों तक सेवा की। इस समय आप लखनऊ में अवकाश-प्राप्त जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

आप आधुनिक हिन्दी-साहित्य के हास्य-रस के प्रतिष्ठाप्राप्त लेखकों में हैं। आपने कहानी, कविता और निबन्ध सभी क्षेत्रों में सफलता प्राप्त की है। 'मगन रहु चोला, मंगल मोद, मनमयूर' आपकी उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। आप हास्य एवं व्यंग्य के गंभीर लेखक हैं। आपका साहित्य स्थायी है।

[भारतीय इतिहास, जीवन; साहित्य और संस्कृति पर अंग्रेजों ने व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं, उनमें से अधिकांश हास्यास्पद ज्ञान पर आधृत थीं, इस विराट् सत्य का उद्घाटन एक काल्पनिक मनोरंजक घटना को आधार बना कर लेखक ने ऐसी सहज-सरल शैली में किया है कि पाठक हँसते-हँसते इस सत्य को समझ लेता है। 'जहाँगीरी अंडा', 'अकबरी लोटा', अंग्रेजों के भारतीय ज्ञान की खिल्ली उड़ाने के जहाँ प्रतीक हैं, वहीं तत्कालीन शासक अंग्रेजों के दिल-दिमाग और बनारस के लोगों की विनोद प्रियता का सजीव चित्र भी लेखक ने सफलतापूर्वक उपस्थित किया है। गंभीर परिस्थिति के बीच मनोरंजक ढंग से कोप-निवृत्ति कहानी को पूर्णता पर प्रतिष्ठित करती है। निश्चय ही प्रस्तुत कहानी अपने ढंग की श्रेष्ठतम कहानी है।]

लाला झाउलाल को खाने-पीने की कमी नहीं थी। काशी के ठठेरी बाजार में मकान था। नीचे की दूकानों से एक-सौ रुपए मासिक के करीब किराया उतर आता था। कच्चे-बच्चे अभी थे नहीं; सिर्फ दो प्राणी का खर्च था। अच्छा खाते थे, अच्छा पहनते थे। पर ढाई-सौ रुपए तो एक साथ आँख सेंकने के लिये भी न मिलते थे।

इसलिए जब उनकी पत्नी ने एक दिन एकाएक ढाई-सौ रुपए की माँग पेश की तब उनका जी एक बार और सनसनाया और फिर बैठ गया। जान पड़ा कि कोई बुल्ला है जो बिलाने जा रहा है। उनकी यह दशा देखकर उनकी पत्नी ने कहा—'डरिए मत, आप देने में असमर्थ हों तो मैं अपने भाई से माँग लूँ।'

लाला झाऊलाल इस मीठी मार से तिलमिला उठे। उन्होंने किंचित् रोष के साथ कहा—'अजी हटो! ढाई-सौ रुपये के लिये भाई से भीख मागेगी? मुझसे ले लेना।'

'लेकिन मुझे इसी जिन्दगी में चाहिएँ।'

'अजी इसी सप्ताह में ले लेना।'

'सप्ताह से आपका तात्पर्य सात दिन से है या सात वर्ष से?'

लाला झाऊलाल ने रोब के साथ खड़े होते हुए कहा—'आज से सातवें दिन मुझसे ढाई-सौ रुपये ले लेना।'

''मर्द की एक बात!''

'हाँ जी हाँ, मर्द की एक बात!'

लेकिन जब चार दिन ज्यों-त्यों में यों ही बीत गए और रुपयों का कोई प्रबन्ध न हो सका तब उन्हें चिन्ता होने लगी। प्रश्न अपनी प्रतिष्ठा का था; घर में अपनी साख का था। देने का पक्का वादा करके अब अगर न दे सके तो अपने मन में वह क्या सोचेगी? उसकी नजरों में उनका क्या मूल्य रह जायगा? अपनी वाह-वाही की सैकड़ों गाथाएँ उसे सुना चुके थे। अब जो एक काम पड़ा तो चारों खाने चित्त हो रहे। यह पहली

ही बार उसने मुँह खोलकर कुछ रुपयों का सवाल किया । इस समय अगर वे दुम दबाकर निकल भागते हैं तो फिर उसे क्या मुँह दिखलायेंगे ? मर्द की एक बात—उसका यह फिकरा उसके कानों मे गूँज-गूँज कर फिर गूँज उठता था ।

खैर, एक दिन और बीता । पाँचवें दिन घबराकर उन्होंने पं० बिलवासी मिश्र को अपनी विपदा सुनाई । संयोग कुछ ऐसा बिगड़ा था कि बिलवासी जी भी उस समय बिलकुल खुक्क थे । उन्होंने कहा—'मेरे पास है तो नहीं, पर मै कहीं से माँग-जाँच कर लाने की कोशिश करूँगा, और अगर मिल गया तो कल शाम को तुमसे मकान पर मिलूँगा ।'

यही शाम आज थी, हफ्ते का अन्तिम दिन । ढाई-सौ रुपया या तो गिन देना है या सारी हेकड़ी से हाथ धोना है । यह सच है कि कल रुपया न पाने पर उनकी स्त्री उन्हे डामलफाँसी न देगी—केवल जरा-सा हँस देगी । पर वह कैसी हँसी होगी । इस हँसी की कल्पनामात्र से लाला झाऊलाल की अन्तरात्मा मे मरोड़ पैदा हो जाता था ।

अभी पं० बिलवासी मिश्र भी नही आये । आज को उनके आने की बात थी । उन्ही का भरोसा था । यदि न आये तो ? या कहीं रुपये का प्रबन्ध वे न कर सके तो ?

इसी उधेड़-बुन मे पड़े लाला झाऊलाल धुर छत पर टहल रहे थे । कुछ प्यास मालूम पडी । उन्होंने नौकर को आवाज दी । नौकर नही था । खुद उनकी पत्नी पानी लेकर आयी । आप जानते ही हैं कि हिन्दू-समाज मे स्त्रियो की कैसी शोचनीय अवस्था है ! पति नालायक को प्यास लगती है तो स्त्री बेचारी को पानी लेकर हाजिर होना पड़ता है !

वे पानी तो जरूर लायी पर गिलास लाना भूल गयी थी । केवल लोटे मे पानी लिए हुए वे प्रकट हुई । फिर लोटा भी संयोग से वह जो अपनी बेढंगी सूरत के कारण लाला झाऊलाल को सदा से नापसंद था । था तो नया, साल ही दो साल का बना, पर कुछ ऐसी गढ़न उस लोटे की थी कि जैसे उसका बाप डमरू और माँ चिलमची रही हो ।

लाला झाऊलाल ने लोटा ले लिया; वे कुछ बोले नही; अपनी पत्नी

का वे अदब मानते थे। मानना ही चाहिये। इसी को सभ्यता कहते हैं। जो पति अपनी पत्नी का न हुआ, वह पति कैसा? फिर उन्होंने यह भी सोचा होगा कि लोटे में पानी हो तब भी गनीमत है—अभी अगर चूँ कर देता हूँ तो बाल्टी में जब भोजन मिलेगा तब क्या करना बाकी रह जायगा।

लाला भाऊलाल अपना गुस्सा पी कर पानी पीने लगे। उस समय वे छत की मुँड़ेर के पास खड़े थे। जिन बुजुर्गों ने पानी पीने के सम्बन्ध में यह नियम बनाये थे कि खड़े-खड़े पानी न पियो, सोते समय पानी न पियो, दौड़ने के बाद पानी न पियो, उन्होंने पता नहीं कभी यह भी नियम बनाया था या नहीं कि छत के मुंड़ेर के पास खड़े होकर पानी न पियो। जान पड़ता है इस महत्त्वपूर्ण विषय पर उन लोगों ने कुछ नहीं कहा है।

इसलिए लाला भाऊलाल ने कोई बुराई नहीं की, मगर वे छत की मुँडेर के पास खड़े होकर पानी पीने लगे, पर मुश्किल से दो एक घूंट वे पी पाये होंगे कि न जाने कैसे उनका हाथ हिल उठा और लोटा हाथ से छूट पड़ा।

लोटे ने न दाहिने देखा, न बायें। वह नीचे गली की ओर चल पड़ा। अपने वेग मे उल्का को लजाता हुआ वह आँखों से ओझल हो गया। किसी जमाने में न्यूटन नाम के किसी खुराफाती ने पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति नाम की एक चीज ईजाद की थी। कहना न होगा कि यह सारी शक्ति इस समय इस लोटे के पक्ष मे थी।

लाला भाऊलाल को काटो तो बदन में खून नहीं, ठठेरी बाजार ऐसी चलती हुई गली में ऊँचे तिमंजिले से, भरे हुए लोटे का गिरना हँसी-खेल नही है। यह लोटा न जाने किस अनधिकारी के खोपड़ी पर काशी-वास का सन्देश लेकर पहुँचेगा।

कुछ हुआ भी ऐसा ही। गली में जोर का हल्ला उठा। लाला भाऊलाल जब तक दौड़ कर नीचे उतरे, तब तक एक भारी भीड़ उनके आँगन मे घुस आयी।

लाला भाऊलाल ने देखा कि इस भीड में प्रधान पात्र अङ्गरेज है जो नखशिख से भींगा हुआ है और जो अपने एक पैर को हाथ से सहलाता हुआ दूसरे पैर पर नाच रहा है। उसी के पास उस अपराधी लोटे को भी

देखकर लाला झाऊलाल जी ने फौरन दो और दो जोड़कर स्थिति को समझ लिया; पूरा विवरण तो उन्हें पीछे प्राप्त हुआ।

हुआ यह था कि गली में गिरने के पूर्व लोटा एक दूकान के सायबान से टकराया। वहाँ टकराकर उस दुकान पर खड़े उस अङ्गरेज को उसने सांगोपांग स्नान कराया और फिर उसी के बूट पर जा गिरा। ध्यान देने की बात है कि हिन्दुस्तानी लोटा भी आखिर वहीं गिरा जहाँ हिन्दुस्तानी आदमी गिरते हैं।

उस अङ्गरेज को जब मालूम हुआ कि लाला झाऊलाल ही उस लोटे के मालिक हैं; तब उसने केवल एक काम किया। अपने मुँह को उसने खोल कर खुला छोड़ दिया। लाला झाऊलाल को आज ही यह मालूम हुआ कि अङ्गरेजी भाषा मे गालियों का ऐसा प्रकाण्ड कोष है।

इसी समय पं० बिलवासी मिश्र भीड़ को चीरते हुए आँगन में आते दिखाई पड़े। उन्होंने आते ही पहला काम यह किया कि उस अङ्गरेज को छोड़कर और जितने आदमी आँगन में घुस आये थे सबको निकाल बाहर किया। फिर एक कुर्सी आँगन मे रखकर उन्होंने साहब से कहा—'आपके पैर में शायद कुछ चोट आ गई है। आप आराम से कुर्सी पर बैठ जाइये।'

साहब बिलवासी जी को धन्यवाद देते हुए बैठ गये और लाला झाऊ-लाल की ओर इशारा करके बोले—'आप इस शख्स को जानते हैं ?'

'बिलकुल नही, और मै ऐसे आदमी को जानना भी नहीं चाहता जो निरीह राह-चलतो पर लोटे से वार करे।'

'मेरी समझ मे He is a dangerous lunatic !' (यानी, यह खतरनाक पागल है।)

'नही मेरी समझ में He is a dangerous criminal !' (नहीं, यह खतरनाक मुजरिम है।)

परमात्मा ने लाला झाऊलाल की आँखों को इस समय कहीं देखने के साथ खाने की भी शक्ति दे दी होती तो यह निश्चय है कि अब तक बिल-बासीजी को वे अपनी आँखों से खा चुके होते। वे कुछ समझ नहीं पाते थे कि बिलवासी जी को इस समय हो क्या गया है।

साहब ने बिलवासीजी से पूछा—'तो अब क्या करना चाहिये ?'

'पुलिस में इस मामले की रिपोर्ट कर दीजिये, जिसमें यह आदमी फौरन हिरासत मे ले लिया जाय।'

'पुलिस-स्टेशन है कहाँ ?'

'पास ही है चलिये मैं बताऊँ।'

'चलिये।'

'अभी चला। आप की इज़ाजत हो तो पहले मैं इस लोटे को इस आदमी से खरीद लूँ। क्यों जी बेचोगे ? मैं पचास रुपये तक इसका दाम दे सकता हूँ।'

लाला झाऊलाल तो चुप रहे, पर साहब ने पूछा—'उस रद्दी लोटे का आप पचास रुपये दाम क्यों दे रहे है ?'

'आप इस लोटे को रद्दी-सा बनाते हैं ? आश्चर्य ! मै तो आपको एक विज्ञ और सुशिक्षित आदमी समझता था।'

'आखिर बात क्या है, कुछ बताइये भी ?'

'जनाब ! यह एक ऐतिहासिक लोटा जान पडता है। जान क्या पडता है, मुझे पूरा विश्वास है। यह वह प्रसिद्ध अकबरी लोटा है जिसकी तलाश में संसार भर के म्यूजियम परेशान हैं।'

'यह बात ?'

'जी हाँ जनाब ! सोलहवीं शताब्दी की बात है ? बादशाह हुमायूँ शेरशाह से हारकर भागा था और सिंध के रेगिस्तान में मारा-मारा फिर रहा था। एक अवसर पर प्यास से उसकी जान निकल रही थी। उस समय एक ब्राह्मण ने इसीं लोटे से पानी पिलाकर उसकी जान बचायी थी। हुमायूँ के बाद जब अकबर दिल्लीश्वर हुआ तब उसने उस ब्राह्मण का पता लगाकर उसने इस लोटे को ले लिया और इसके बदले में उसे इसी प्रकार के दस सोने के लोटे प्रदान किये। यह लोटा सम्राट् अकबर को बहुत प्यारा था। इसी से इसका नाम 'अकबरी लोटा' पड़ा। वह बराबर इसी से वजू करता था। सन्' ५७ तक शाही घराने में ही इसके रहने का पता है पर इसके बाद लापता हो गया। कलकत्ते के म्यूजियम में इसका प्लास्टर

का माडल रखा हुआ है। पता नही यह लोटा इस आदमी के पास कैसे आया! म्यूजियमवालों को पता चले तो फैंगी दाम लेकर खरीद ले जायँ।

इस विवरण को सुनने-सुनते साहब की आँखों पर लोभ और आश्चर्य का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे कौड़ी के आकार से बढ़कर पकौड़ी के आकार की हो गयीं। उसने बिलवासीजी से पूछा—'तो आप इस लोटे को लेकर क्या करियेगा ?'

'मुझे पुरानी और ऐतिहासिक चीजों के संग्रह करनेका शौक है।'

'मुझे भी पुरानी और ऐतिहासिक चीजों के संग्रह करने का शौक है। जिस समय यह लोटा मेरे ऊपर गिरा, उस समय मै यही कर रहा था। उस दुकान पर से पीतल की कुछ पुरानी मूर्तियाँ खरीद रहा था।'

'जो कुछ हो, लोटा तो मैं ही खरीदूँगा।'

'वाह, आप कैसे खरीदेगे ? मै खरीदूँगा। मेरा हक है।'

'हक है ?'

'जरूर हक है। यह बताइये कि उस लोटे के पानी से आपने स्नान किया या मैने ?'

'आपने।'

'वह आपके पैरों पर गिरा या मेरे ?'

'आपके।'

'अँगूठा उसने आपका भुरता किया या मेरा ?'

'आपका।'

'इसलिये उसे खरीदने का हक मेरा है।

'यह सब झोल है। दाम लगाइये, जो अधिक दाम दे वह ले जाय।'

'यही सही। आप उसका पचास रुपया दे रहे थे, मै सौ देता हूँ।'

'मै डेढ़ सौ देता हूँ।'

'मैं दो-सौ देता हूँ।''

'अजी मै ढाई सौ देता हूँ।' यह कहकर बिलवासीजी ने ढाई-सौ के नोट लाला झाऊलाल के आगे फेंक दिये।

'साहब को भी अब ताव आ गया। उसने कहा—'आप ढाई-सौ देते है तो मैं पाँच-सौ देता हूँ। अब चलिये !'

बिलवासीजी अफसोस के साथ अपने रुपये उठाने लगे; मानों अपनी आशाओं की लाश उठा रहे हों। साहब की ओर देखकर उन्होंने कहा—'लोटा आपका हुआ, ले जाइये ! मेरे पास ढाई-सौ से अधिक है नहीं।'

यह सुनना था कि साहब के चेहरे पर प्रसन्नता की कूँची फिर गयी। उसने झपटकर लोटा उठा लिया और बोला—'अब मैं हँसता हुआ अपने देश लौटूँगा। मेजर डगलस की डींग सुनते-सुनते मेरे कान पक गये थे।

'मेजर डगलस कौन हैं ?'

मेजर डगलस मेरे पड़ोसी हैं। पुरानी चीजों के संग्रह करने में मेरी उनकी होड़ रहती है। गत वर्ष हिन्दुस्तान आये थे और यहाँ से जहाँगीरी अण्डा ले गये थे।

'जहाँगीरी अण्डा था ?'

'जी हाँ, जहाँगीरी अण्डा। मेजर डगलस ने समझ रखा था कि हिन्दुस्तान से वे ही ऐसी चीज ले जा सकते हैं।'

'पर जहाँगीरी अण्डा है क्या ?'

आप जानते होंगे कि एक कबूतर ने नूरजहाँ से जहाँगीर का प्रेम कराया था। जहाँगीर के पूछने पर कि मेरा एक कबूतर तुमने कैसे जाने दिया, नूरजहाँ ने उसके दूसरे कबूतर को भी उड़ाकर बताया था कि ऐसे। उसके इस भोलेपन पर जहाँगीर सौ जान से निछावर हो गया। उसी क्षण से उसने अपने को नूरजहाँ के साथ बय कर दिया। पर कबूतर का एहसान वह नहीं भूला। उसके एक अण्डे को उसने बड़े जतन से रख छोड़ा। एक बिल्लौर की हाँड़ी में उसके सामने सटा टँगा रहता था। बाद में वही अण्डा 'जहाँगीरी अण्डा' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसी को मेजर ने पारसाल दिल्ली में एक मुसलमान सज्जन से तीन सौ रुपये में खरीदा।'

'यह बात !'

'हाँ, पर वे अब मेरे आगे दून को नहीं ले सकते। मेरा अकबरी लोटा उनके जहाँगीरी अण्डे से भी एक पुश्त पुराना है।'

'इस रिश्ते से तो आपका लोटा उस अण्डे का बाप हुआ।'

साहब ने लाला झाऊलाल को पाँच सौ रुपये देकर अपनी राह ली।

लाला भाऊलाल का चेहरा इस समय देखते बनता था। जान पड़ता था कि मुँह पर छः दिन की बढ़ी हुई दाढ़ी के एक-एक बाल मारे प्रसन्नता से लहरा रहे हैं। उन्होने पूछा—'बिलवासीजी! आप मेरे लिये ढ़ाई सौ रुपया घर से लेकर चले थे? पर आपको मिले कहाँ से? आपके पास तो थे नहीं।'

'इस भेद को मेरे सिवा मेरा ईश्वर ही जानता है। आप उसी से पूछ लीजिए। मैं नहीं बताऊँगा।'

'पर आप चले कहाँ? अभी मुझे आपसे काम है; दो घण्टे तक।'

'दो घण्टे तक?'

'हाँ और क्या? अभी मैं आपकी पीठ ठोंक कर शाबाशी दूँगा; एक घण्टा इसमें लगेगा, फिर गले लगाकर धन्यवाद दूँगा; एक घण्टा इसमें भी लग जायगा।'

'अच्छा पहले अपने पाँच सौ रुपये गिनकर सहेज लीजिये।'

रुपया अगर अपना हो तो उसे सहेजना एक ऐसा सुखद और सम्मोहक कार्य है कि मनुष्य उस समय सहज ही तन्मयता प्राप्त कर लेता है। लाला भाऊलाल ने अपना कार्य समाप्त करके ऊपर देखा, पर बिलवासी जी इस बीच अन्तर्द्धान हो गये थे।

उस दिन रात्रि में बिलवासी जी को देर तक नीद नहीं आयी। वे चादर लपेटे चारपाई पर पड़े रहे। एक बजे वे उठे। धीरे से, बहुत धीरे से, अपनी सोई हुई पत्नी के गले से उन्होने सोने की वह सिकड़ी निकाली जिसमें एक ताली बँधी हुई थी। फिर उसके कमरे में जाकर उन्होने उस ताली से उसकी सन्दूक खोली। उसमें ढाई सौ के नोट ज्यों के त्यों रखकर उन्होंने उसे बन्द कर दिया। फिर दबे पाँव लौटकर ताली को उन्होंने पूर्ववत् अपनी पत्नी के गले में डाल दिया। इसके बाद उन्होंने हँसकर अंगड़ाई ली, अंगडाई लेकर लेट गये और लेट कर मर गये।

दूसरे दिन सुबह आठ बजे तक वे मरे रहे।

❀

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

[**जन्म**—सन् १८९८ ई०]

आपका जन्म बंगाल प्रान्त के महिषादल राज्य के मेदिनीपुर नामक स्थान मे हुआ था। आपके पिता उन्नाव जिले के निवासी थे और महिषादल राज्य मे नौकर थे। आपके जीवन का आरम्भिक काल बंगाल मे ही बीता। आपको स्कूली शिक्षा अत्यन्त अल्प मिली। पर संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी का गम्भीरतापूर्वक आपने स्वाध्याय किया। बीस वर्ष की अवस्था मे आपको पत्नी-वियोग सहना पड़ा। बचपन से ही आपका झुकाव दर्शन की ओर था। हिन्दी अपनी पत्नी मनोरमा देवी की प्रेरणा से सीखी। 'निराला' जी हिन्दी के युगप्रवर्त्तक कवि तथा 'छायावाद' के प्रतिष्ठापकों में से है। कहानी और उपन्यास के क्षेत्र मे भी आपकी देन स्थायी महत्त्व की है। आपका साहित्य कर्म, पौरुष एवं उज्ज्वल भावनाओं का आगार है। आप हिन्दी की अमर विभूति है।

[जिस प्रकार काव्य में अपनी शैली के लिए 'निराला' जी का अपना स्थान है, उसी प्रकार गद्य के क्षेत्र में भी। यह निरालापन भाषा और शैली तक सीमित है। यह शैली भावनामूलक होते हुए भी व्यंग्य-प्रधान है।

कहानी मूलतः उस संक्रमणकालीन स्थिति का निर्देशन करती है जो अपदस्थ अतीत की सामाजिक सम्बन्ध-शृंखला एवं नवीन सम्बन्ध रचना की अक्षमता के संयोग से भारतीय जीवन मे दीख पड़ रही है। तीखे एवं सटीक व्यंग्यों के बीच जहाँ विज्ञापनों की कारसाजी की खिल्ली लेखक ने सफलतापूर्वक उड़ाई है, वही भारतीय नर-नारी के इस सनातन सम्बन्ध को भी, उसने चुभने वाली प्रणाली पर, अभिव्यक्त किया है कि पुरुष नारी के प्रति सदैव कापुरुष रहा है जिसका परिणाम नारी के भीतर प्रतिहिंसा की सृष्टि है।

लेखक अपनी बात कह कर समाज की वर्त्तमान संक्रमणकालीन स्थिति के प्रति जो व्यंग्य करता है वह उसकी व्यापक रचनात्मक दृष्टि का परिचायक है।]

श्रीमती गजानन्द शास्त्रिणी श्रीमान् पं० गजानन्द शास्त्री की धर्मपत्नी हैं। श्रीमान् शास्त्रीजी ने आपके साथ यह चौथी शादी की है, धर्म की रक्षा के लिए। शास्त्रीजी के पिता को पोड़शी कन्या के लिए पैंतालिस साल का वर बुरा नही लगा, धर्म की रक्षा के लिए। वैद्य का पेशा अख्तियार किये शास्त्रीजी ने युवती पत्नी के आने के साथ 'शास्त्रिणी' का साइन-बोर्ड टाँगा, धर्म की रक्षा के लिए। शास्त्रिणीजी उतनी ही उम्र में गहन पातिव्रत्य पर अविराम लेखनी-चालन कर चलीं, धर्म की रक्षा के लिए; मुझे भी यह कहानी लिखनी पड़ रही है, धर्म की रक्षा के लिए।

इससे सिद्ध है कि धर्म बहुत ही व्यापक है, सूक्ष्म है। सूक्ष्म दृष्टि से देखनेवालों का कहना है कि नश्वर संसार का कोई काम धर्म के दायरे से बाहर नही। संतान पैदा होने के पहले से मृत्यु के बाद—पिण्डदान तक जीवन के समस्त भविष्य-वर्त्तमान और भूत को व्याप्त कर धर्म-ही-धर्म है।

जितने देवता हैं, चूँकि देवता हैं, इसलिए धर्मात्मा हैं। मदन को भी देवता कहा है। यह जवानी के देवता हैं। जवानी जीवन भर का शुभ मुहूर्त है। सबसे पुष्ट, कर्मठ और तेजस्वी देवता—मदन, सो भस्म होकर भी नहीं मरे; लिहाजा यह काल और काम देवता सब से ज्यादा सम्मान्य, फलतः क्रियाएँ भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, धार्मिकता लिए हुए। मदन को कोई देवता न माने तो न माने, पर यह निश्चय है कि आज तक कोई देवता इन पर प्रभाव नहीं डाल सका। किसी धर्म, शास्त्र और अनुशासन को यह मान कर नहीं चले; बल्कि धर्म, शास्त्र और अनुशासन के माननेवालों ने ही इनकी अनुवर्तिता की है! यौवन को भी कोई कितना निन्द्य कहे, चाहते सब है, वृद्ध सर्वस्व भी स्वाहा कर! चिह्न तक लोगों को अभिप्रिय हैं—खिजाब की कितनी खपत है। पौष्टिकता की दवा सबसे ज्यादा बिकती

है। साबुन, सेंट, पाउडर, क्रीम, हेजलीन, वेसलीन, तेल-फुलेल के लाखों कारखाने हैं। और इस दरिद्र देश में जब न थे, तब रामजी और सीताजी उबटन लगाते थे। नाम और प्रसिद्धि कितनी है—संसार की सिनेमा-स्टारों को देख जाइये। किसी शहर में गिनिये—कितने सिनेमा हाउस हैं। भीड़ भी कितनी—आवारागर्द मवेशी कान्जी हाउस मे इतना न मिलेंगे। देखिए—हिन्दू, मुसलमान, शिख, पारसी, जैन, बौद्ध, क्रिस्तानी सभी; साफा, टोपी, पगड़ी, कैप, हैट, और पाग से लेकर नंगा सिर घुटने तक, अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, द्वैताद्वैवादी द्वैताद्वैतवादी, शुद्धाद्वैतवादी, साम्राज्यवादी, आतंकवादी, समाजवादी, काजी, नाज, सूफी से लेकर छायावादी तक; खड़े बेड़े, सीधे, टेढे, सब तरह से तिलक-त्रिपुण्ड, बुरकेवाली, घूंघटवाली, पूरे और आधे छौर चौथाई बालवाली, खुली और मुँदी और चश्मेवाली आँखें तक देख रही है। अर्थात् संसार के जितने धर्मात्मा है, सभी यौवन से प्यार करते है। इसलिए उसके कार्य को भी धर्म कहना पड़ता है। किसी के न कहने—न मानने से वह अधर्म नहीं होता है।

इस यौवन के धर्म की ओर शास्त्रिणीजी का धावा हुआ, जब वह पन्द्रह साल की थीं—अविवाहित। यह आवश्यक था, इसलिए पाप नहीं। मै इसे आवश्यकतानुसार ही लिखूँगी! जो लाग विशेप रूप से समझना चाहते हों, वे जितने दिन तक पढ़ सकें, काम-विज्ञान का अध्ययन कर लें। इस शास्त्र पर जितनी पुस्तकें है, उनके पूरे अध्ययन के लिए पूरा मनुष्य जीवन थोड़ा है। हिन्दी मे अनेक पुस्तकें इस पर प्रमाणित है, बाल्कि प्रकाशन को सफल बनाने के लिए इस विषय की पुस्तकें आधार मानी गई हैं। इससे लोगों को मालूम होगा कि यह धर्म किस अवस्था से किस अवस्था तक किस-किस रूप मे रहता है।

[२]

शास्त्रिणीजी के पिता जिला बनारस के रहनेवाले है, देहात के, पयासी, सरयूपारीण ब्राह्मण; मध्यमा संस्कृत तक पढ़े, घर के साधारण जमींदार, इसलिए आचार्य की विद्वत्ता का लोहा मानते है। गांव मे एक बाग कलमी

लँगड़े का है। हर साल भारत-सम्राट् को ग्राम भेजने का इरादा करते हैं, जब से वायुयान कम्पनी चली। पर नीचे से ऊपर को देख कर ही रह जाते हैं, साँस छोड़कर। जिले के अँगरेज हाकिमों को आम पहुँचाने की पितामह के समय से प्रथा है। यह भी सनातन-धर्मानुयायी है। नाम पं० रामखेलावन है।

राँमखेलावन जी के जीवन में एक सुधार मिलता है। अपनी कन्या का, जिन्हें हम शास्त्रिणीजी लिखते हैं, नाम उन्होंने सुपर्णा रक्खा है। गाँव की जीभ में इसका यह रूप नहीं रह सका, प्रागेसिव राइटर्स की साहित्यिकता की तरह 'पन्ना' बन गया है। इस सुधार के लिए पं० रामखेलावनजी को धन्यवाद देते हैं। पंडित जी समय काटने के विचार से आप ही कन्या को शिक्षा देते थे, फलस्वरूप कन्या भी उनके साथ समय काटती गई और पन्द्रह साल की अवस्था तक सारस्वत मे हिलती रही। फिर भी गाँव की वधू-वनिताओं पर, उसकी विद्वत्ता का पूरा प्रभाव पडा। दूसरो पर प्रभाव डालने का उसका जमीदारी स्वभाव था, फिर संस्कृत पढ़ी, लोग मानने लगे। गति मे चापल्य उसकी प्रतिभा का सबसे बड़ा लक्षण था।

उन दिनों छायावाद का बोल-बाला था, खास तौर से इलाहाबाद मे। लडके पंत के नाम की माला जपते थे, ध्यान लगाये। कितनी लड़ाइयाँ लड़ी प्रसाद, पन्त और माखनलाल के विवेचन मे। भगरतीचरण 'बॉयरन' से आगे है, पीछे रामकुमार—कितनी ताकत से सामने आते हुए। महादेवी कितना खींचती है।

मोहन उसी गाँव का, इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे बी० ए० (पहले साल) मे पढता था। यह रंग उस पर भी चढा और दूसरे से अधिक उसे पन्त की प्रकृति प्रिय थी, और इस प्रियता से जैसे पन्त में बदल जाना चाहता था। संकोच, लज्जा, मार्जित मधुर उच्चारण, निर्भीक नम्रता, शिष्ट आलाप, सज-धज उसी तरह। रचनाओं ने रच गया। साधना करते सधी रचना करने लगा। पर सम्मेलन शरीफ अब तक नहीं गया। पिता हाईकोर्ट में क्लर्क थे। गर्मी की छुट्टियों में गाँव आया हुआ है।

सुपर्णा से परिचय है जैसे पर्ण और सुमन का। सुमन पर्ण के ऊपर है,

सुपर्णा नहीं समझी। जमींदार की लड़की जिस तरह वहाँ की समस्त डालों के ऊपर अपने को समझती थी, उसके लिये भी समझी। ज्यों-ज्यों समय की हवा से हिलती थी; सुमन की रेणु से रंग जाती थी; समझती थी, वह उसी का रंग है। मोहन शिष्ट था, पर अपना आसन न छोड़ता था।

सुपर्णा एक दिन बाग में थी। मोहन लौटा हुआ घर आ रहा था। सुपर्णा रंग गई। बुलाया। मोहन फिर भी घर की तरफ चला।

'मोहन ! ये आम बाबूजी दे गये हैं, ले आओ। तकवाहा बाजार गया है।'

मोहन बाग की ओर चला। नजदीक गया तो सुपर्णा हँसने लगी—'कैसा धोखा देकर बुलाया है ! आम बाबू जी ने तुम्हारे यहाँ कभी और भी भिजवाये है ?'—मोहन लजाकर हँसने लगा।

'लेकिन तुम्हारे लिये कुछ आम चुनकर मैंने रक्खे हैं। चलो।'

मोहन ने एक बार संयत दृष्टि से उसे देखा। सुपर्णा साथ लिये बीच बाग की तरफ चली—"मेने तुम्हे आते देखा था, तुमसे मिलने को छिप कर चली आई। तकवाहे को सौदा लेने बाजार (दूसरे गाँव) भेज दिया है। याद है मोहन ?'

'क्या ?'

'मेरो गुँइया ने तुम्हाने साथ; खेल में।'

'यह तो खेल था।'

'नहीं, वह सही था। मै अब भी तुम्हे वही समझती हूँ।'

'लेकिन तुम पयासी हो। शादी तुम्हारे पिता को मंजूर न होगी।'

'तो तुम मुझे कहीं ले चलो। मै तुमसे कहने आई हूँ। दूसरे से व्याह करना मै नहीं चाहती।'

मोहन की सुन्दरता गाँव की रहनेवाली सुपर्णा ने दूसरे युवक में नहीं देखी। उसका आकर्षण उसकी माँ को मालूम हो चुका था। उसका मोहन के घर जाना बन्द था। आज पूरी शक्ति लड़ाकर, मौका देखकर सोहन से मिलने आई है। मोहन खिंचा। उसे यहाँ वह प्रेम न दीखा, वह जिसका भक्त था, कहा—

'लेकिन मैं कहाँ ले चलूं ?'

'जहाँ रहते हो।'

'वहाँ तो पिता जी हैं।'

'तो और कहीं।'

'खायेंगे क्या ?'

खाना पड़ता है, यह सुपर्णा को याद न था। मोहन से लिपटी जा रही थी। इसी समय तकवाहा बाजार से आ गया। देर का गया था। देख कर सचेत करने के लिए आवाज दी। सुपर्णा घबराई। मोहन खड़ा हो गया।

तकवाहा बाग का सौदा देकर मोहन को जमींदार को ही दृष्टि से घूरता रहा। मतलब समझ कर मोहन धीरे-धीरे बाग से बाहर निकला और घर की ओर चला।

तकवाहा धार्मिक था। जैसा देखा था, पं० रामखेलावन जी से व्याख्या-समेत कहा। साथ ही इतना उपदेश भी दिया कि 'मालिक! पानी की भरी थाल है, कब क्या हो जाय! बिटिया रानी का जल्द ब्याह कर देना चाहिए।

पं० रामखेलावन जी भी धार्मिक थे धर्म की सूक्ष्मतम दृष्टि से देखने लगे तो मालूम पड़ा कि वे पृथ्वी के गर्भ मे हैं, नौ-दस महीने में क्या होगा फिर? इसी महीने में लगन है—ब्याह हो जाना चाहिए।

जल्दी से बनारस चले।

[३]

पं० गजानन्द शास्त्री बनारस के वैद्य हैं। बैदकी साधारण चलती है, बड़े दाँव-पेंच करते है तब। पर आशा बहुत बड़ी-बड़ी है। सदा बड़े-बड़े आदमियों की तारीफ करते है, ऐसे स्वर मे, जैसे उन्ही मे से एक हों। बैदकी चले इस अभिप्राय से शाम को रामायण पढ़ते-पढ़वाते हैं, तुलसी-कृत; अर्थ स्वयं कहते है। गोस्वामी जी के साहित्य का उनसे बड़ा जानकार—विशेषकर रामायण का भारतवर्ष में नहीं, लोग यह श्रद्धापूर्वक मानते हैं। सुननेवाले ज्यादातर विद्यार्थी हैं। कुछ साधारण जन है, जिन्हे असमय पर मुफ्त दवा की जरूरत पड़ती हैं। दो-चार ऐसे भी आदमी, जो काम तो साधारण करते हैं, पर असाधरण आदमियों से गप लड़ाने के आदी हैं। मजे की महफिल लगती है। कुछ महीने हुए, शास्त्रीजो की तीसरी पत्नी का अचिकित्सा के कारण देहान्त हो गया है। बड़े आदमी की तलाश में

मिलनेवाले अपने मित्रों से शास्त्रीजी बिना पत्नीवाली अड़चनों का बयान करते है और उतनी बडी गृहस्थी आठाबाठा जाती है—इसके लिए विलाप ! सुपात्र सरयूपारीण ब्राह्मण है; नामखोर सुकुल।

पं० रामखेलावन जी बनारस के ऐसे मित्र के यहाँ आकर ठहरे, जो वैद्यजी के पूर्वोक्त प्रकार के मित्र है। रामखेलावन जी लडकी के ब्याह के लिए आये है, सुनकर मित्र ने उन्हे ऊपर ही लिया और शास्त्रीजी की तारीफ करते हुए कहा—'ऐमा सुपात्र बनारस शहर मे न मिलेगा। शास्त्रीजी की तीसरी पत्नी अभी गुजरी है; फिर भी उम्र अधिक नही—जवान है।' शास्त्री, वैद्य, पात्र और उम्र अधिक नहीं।—सुनकर रामखेलावन जी ने मन-ही-मन बाबा विश्वनाथ को दण्डवत् की और बाबा विश्वनाथ ने हिन्दू-धर्म के लिए क्या-क्या किया है, इसका उन्हें स्मरण दिलाया। वह भक्त-वत्सल आशुतोष है, यह यही से विदित हो रहा है—मर्यादा की रक्षा के लिए अपनी पुरी मे पहले से घर लिए बैठे है—जाने के साथ मिला दिया। अब यह बंधन न उखड़े, इसकी बाबा विश्वनाथ को याद दिलाई।

पं० रामखेलावनजी के मित्र पं० गजानन्द शास्त्री के यहाँ उन्हे लेकर चले। जमींदार पर एक धाक जमाने की सोची। कहा—'लेकिन बडे आदमी है; कुछ लेन-देनवाली बात ही कह दीजिए, आखिर उनकी बराबरी के लिए कहना ही पड़ेगा कि जमीदार है।'

'कुल मिलाकर तीन हजार तो दीजिए, नहीं तो अच्छा न लगेगा।'

'इतना तो बहुत है।'

'ढाई हजार? इतने से कम ही होगा। यह दहेज की बात नही बनाव की बात है।'

'अच्छा इतना कर दिया जायगा। लेकिन विवाह इसी लगन मे हो जाना चाहिए।'

मित्र चौंका। सन्देह मिटाने के लिए कहा—'भाई, इस साल तो नहीं हो सकता।'

पं० रामखेलावन जी घबरा कर बोले—आप जानते ही है, ग्यारह

साल के बाद लड़की जितना ही पिता के यहाँ रहती है, पिता पर पाप चढ़ता है। पन्द्रह साल की है। सुन्दर जोड़ा है। लड़की अपने घर जाय, चिन्ता कटे। जमाना दूसरा है।

मित्र की आशा बँधी। सहानुभूति-पूर्वक बोले—'बड़ा जोर लगाना पड़ेगा, अगले साल हो तो बुरा तो नहीं ?'

पं० रामखेलावनजी चलते हुए रुककर बोले—अब इतना सहारा दिया है, तो खेवा पार ही कर दीजिये। बड़े आदमी ठहरे, कोई हमसे भी अच्छा तब तक आ जायगा।'

मित्र को मजबूती हुई। बोले—'उनकी स्त्री का देहान्त हुआ है, अभी साल भी पूरा नही हुआ। बरषी से पहले मंजूर न करेंगे। लेकिन एक उपाय है, अगर आप करें।'

'आप जो भी कहें हम करने को तैयार है, भला हमे ऐसा दामाद कहाँ मिलेगा ?'

'बात यह कि कुल सरायें एक ही महीने मे करनी पड़ेगी और फिर ब्रह्मभोज भी तो है, और बड़ा। कम-से कम तीन हजार खर्च होंगे। फिर तत्काल विवाह। आप हजार रुपए भी दीजिये, पर उन्हे नहीं, अरे ! इसे वह अपमान समझेंगे। हम दें। इससे आपकी इज्जत बढेगी, आखिर हमे बढकर उनसे कहना भी तो है कि बराबर की जगह है। हजार जब उनके हाथ पर रक्खेंगे कि आपके ससुरजी ने बरषी के खर्च के लिए दिये है, तब यह दस हजार के इतना होगा, यही तो बात थी। वह भी समझेंगे।'

पं० रामखेलावनजी दिल में कसमसाये, पर चारा न था। उतरे गले से कहा—'अच्छी बात है।' मित्र ने कहा— तो रुपये कब तक भेजियेगा ? अच्छा, अभी चलिए; देख तो लीजिये, लेकिन विवाह की बात-चीत न कीजियेगा, नहीं तो निकाल ही देंगे। समझिये—पत्नी मरी है।

रामखेलावन दबे। धीरे-धीरे चलते गये। 'लड़की कुछ पढ़ी भी है ? पढ़ती तो है—तीन साल हुए, जब मैं गया था गवाही थी—मौका देखने के लिए ?' मित्र ने पूछा।

'लड़की तो सरस्वती है। आपने देखा ही है। संस्कृत पढ़ी है।'

'ठीक है। देखिए, बाबा विश्वनाथ हैं।'—मित्र ने तरह देकर उतरे गले से कहा।

रामखेलावनजी डरे कि कहीं बिगाड़ न दे। दिल से जानते थे, बदमाश है, उनकी तरफ से झूठ गवाही दे चुका है रुपये लेकर, लेकिन लाचर थे, कहा—'हम तो आपमें बाबा विश्वनाथ को देखते हैं। यह काम आपका बनाये बनेगा।'

मित्र हँसा। बोला—'कह तो चुके। गाढ़े मे काम न दे, वह मित्र नहीं दुश्मन है।' सामने देख कर—'वह देखिए, वह शास्त्रीजी का ही मकान है, सामने।' था वह किराये का मकान। अच्छी तरह देख कर कहा—'है नही बैठक मे; शायद पूजा मे है।'

दोनों बैठक मे गये। मित्र ने पं० रामखेलावनजी को आश्वासन देकर कहा—'आप बैठिये, मै बुलाये लाता हूँ।'

पं० रामखेलावनजी एक कुर्सी पर बैठे। मित्रवर आवाज देते हुए जीने पर चढ़े।

जिस तरह मित्र ने यहाँ रोब गाँठा था उसी तरह शास्त्रीजी पर गाँठना चाहा। वह देख चुका था, शास्त्रीजी खिजाब लगाते है, अर्थ विवाह के सिवा दूसरा नही। शास्त्रीजी बढ़-बढ कर बातें करते है, यह मौका बढ कर बातें करने का है। उनका मन्त्र है, काम निकल जाने पर बेटा बाप का नहीं होता। उसे काम निकलना है।

शास्त्रीजी ऊपर एकान्त में दवा कूट रहे थे। आवाज पहचान कर बुलाया। मित्र ने पहुँचने के साथ देखा—खिजाब ताजा है। प्रसन्न होकर बोला—'मेरी मानिए, तो वह विवाह कराऊँ, जैसा कभी न किया हो, और वह अप्सरा, संस्कृत पढ़ी!....रुपया भी दिलाऊँ।'

शास्त्रीजी पुलकित हो उठे। कहा—'आप हमें दूसरा समझते है? इतनी मित्रता—रोज की उठक-बैठक, आप मित्र ही नहीं—हमारे सर्वस्व है। आपकी बात न मानेंगे तो क्या रास्ता चलते की मानेंगे? आप भी... !'

'आपने अभी स्नान नहीं किया शायद? नहा कर चन्दन, लगाकर, अच्छे कपड़े पहन कर नीचे आइए। विवाह करनेवाले जमींदार साहब है, वहीं परिचय कराऊँगा! लेकिन अपनी तरफ से कुछ कहिएगा मत। वह

तो बड़ा आदमी है, भड़क जायगा। घर की शेखी में मत भूलिएगा। आप जैसे उसके नौकर हैं। हाँ, जन्म-पत्र अपना हर्गिज न दीजिएगा। उम्र का पता चलेगा तो न करेगा। मैं सब ठीक कर दूँगा। चुपचाप बैठे रहिएगा। नौकर कहाँ है?'

'बाजार गया है।'

'आने पर मिठाई मँगवाइगा। हलाँकि खायगा नहीं। मिठाई से इनकार करने पर नमस्कार करके सीधे ऊपर रास्ता नापिएगा। मैं भी यही कह दूँगा, शास्त्रीजी ने आधे घंटे का समय दिया है।'

शास्त्री गजानन्द जी गद्‌गद्‌ हो गये। ऐसा सच्चा आदमी यह पहला मिला है, उनका दिल कहने लगा। मित्र नीचे उतरा और पंडित जी से गम्भीर होकर बोला—'पूजा में हैं, पहले ही समझ गया था। दस मिनट के बाद आँख खोली, जब मैंने घंटी टिनटिनाई! जब से स्त्री का देहान्त हुआ है, पूजा ही में रहते हैं। सिर हिला कर कहा—चलो। चलो। देखिए, बाबा विश्वनाथ ही है—हे प्रभो! शरणागत-शरण! तुम्हीं हो—बाबा विश्वनाथ!'—कहते हुए मित्र ने पलकें मूँद लीं।

इसी समय पैरों की आहट मालूम दी, देखा—नौकर आ रहा था। डाँटकर कहा—'पंखा झल। शास्त्रीजी अभी आते हैं।'

नौकर पंखा झलने लगा। वैद्य का बैठका था ही। पं० रामखेलावन जी प्रभाव में आ गये आधे घंटे बाद, जीने में खड़ाऊँ की खटक सुन पड़ी। मित्र उठकर हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया, उंगली के इशारे पं० रामखेलावन जी को खड़ा हो जाने के लिए कह कर। मित्र की देखा-देखी पंडित जी ने भी भक्तिपूर्वक हाथ जोड़ लिए। नौकर अचम्भे से देख रहा था। ऐसा पहले कभी नहीं देखा था।

शास्त्री जी के आने पर मित्र ने घुटने तक झुक कर प्रणाम किया, पं० रामखेलावन जी ने भी अपने मित्र का अनुसरण किया। 'बैठिए, गदाधर जी', कोमल सभ्य कण्ठ से कहकर गजानन्द जी अपनी कुर्सी पर बैठ गये। वैद्य जी को बढ़िया गद्दीदार कुर्सी बीच में थी। पं० रामखेलावन जी आश्चर्य और हर्ष से देख रहे थे। आश्चर्य इसलिए कि शास्त्री जी बड़े आदमी

तो हैं ही, उम्र भी अधिक नही, २५ से ३० की कहने की हिम्मत नहीं पड़ती।

शास्त्रीजी ने नौकर को पान और मिठाई ले आने के लिए भेजा और स्वाभाविक बनावटी विनम्रता के साथ मित्रवर गजाधर से आगन्तुक अपरिचित महाशय का परिचय पूछने लगे। पं० गदाधरजी बडे उदात्त कण्ठ से पं० रामखेलाव जी की प्रशंसा कर चले, पर किस अभिप्राय से वह गये थे, यह न कहा। कहा—'महाराज! आप एक अत्यन्त आवश्यक गृह-कार्य से मुक्त होना चाहते है।'

पलकें मूँदते हुए भावावेष मे शास्त्री जी ने कहा—'काशी तो मुक्ति के लिए प्रसिद्ध है।'

हाँ, महाराज!'—मित्र ने और आविष्ट होते हुए कहा—'वह तो सबसे बड़ी मुक्ति है, पर यह साधारण मुक्ति ही है, आप जैसे बाबा विश्वनाथ के परमसिद्ध भक्त स्वीकार-मात्र से इस भव-बन्धन से मुक्ति दे सकते है।'—कह कर हाथ जोड़ दिये। पं० रामखेलावन जी ने साथ किया।

हाँ, नहीं; कुछ न कहकर एकान्त धार्मिक दृष्टि से परमसिद्ध पं० गजानन्द जी शास्त्री पलकों के अन्दर आँख करके बैठ रहे।

इस समय नौकर पान और मिठाई ले आया। शास्त्री जी ने खटक से आँखें खोल कर देखा, नौकर को शुद्ध जल से आने के लिए कह कर बड़ी नम्रता से पं० रामखेलावन जी को जलपान करने के लिए पूछा। पं० रामखेलावन जी दोनों हाथ उठा कर जीभ काटकर सिर हिलाते हुए बोले—'नही-नही महाराज, यह तो अधर्म है। चाहिए तो हमें कि हम आपकी सेवा करें, बल्कि आपके सेवा-सम्बन्ध मे सदा के लिए...........'

'अहाहा! क्या कही! क्या कही!—कह कर, पूरा दोना उठा कर एक रसगुल्ला छोड़ते हुए मित्र ने कहा—'बाबा विश्वनाथ जी के वर से काशी का एक-एक बालक अन्तर्यामी होता है, फिर उनकी सभा के पार्षद् शास्त्रीजी तो..........'

शास्त्रीजी अभिन्न स्नेह की दृष्टि से मित्र को देखते रहे। मित्र ने स्वल्पकाल में रामभवन का प्रसिद्ध मिष्टान्न उदरस्थ कर जलपान के पश्चात्

मगही बीड़ों की एक नत्थी मुखव्यादान कर यथास्थान रक्खी। शास्त्रीजी विनयपूर्वक नमस्कार कर जोनातै करने को चले। उनके पीठ फेरने पर मित्र ने रामखेलावन जी को पंजा दिखाकर हिलाते हुए आश्वासन दिया। शास्त्रीजी के अदृश्य होने पर इशारे से पं० रामखेलावन जी को साथ लेकर वासस्थल की ओर प्रस्थान किया।

रामखेलावन जी पर शास्त्रीजी के मौन का प्रभाव पूरा-पूरा पड़ चुका था। कहा—'अब हमे इधर से जाने दीजिए; कल रुपए लेकर आयेंगे। लेकिन इसी महीने विवाह हो जाय।'

'इसी महीने—इसी महीने!' गम्भीर भाव से मित्र ने कहा—'जन्मपत्र लड़की की लेते आइएगा। हाँ एक बात और है। बाकी डेढ़ हजार में बारह सौ का जेवर होना चाहिए, नया; आइयेगा; हम खरीदवा देंगे।'—दलाली की सोचते हुए कहा—'आपको ठग लेगा। आप इतना तो समझ गये होंगे कि इतने के बिना बनता नही, तीन सौ रुपये रह जायँगे। खिलाने-पिलाने और परजों को देने को बहुत है। वल्कि कुछ बच जायगा आपके पास। फिजूल खर्च हो, यह मैं नहीं चाहता। इसलिये ठोस-ठोस कामवाला खर्च कहा। अच्छा नमस्कार!'

[४]

शास्त्रीजी का व्याह हो गया। सुपर्णा पति के साथ हैं; शास्त्रीजी व्याह करते-करते कोमल हो गये थे। नवीना सुपर्णा के प्रति यथाभ्यास सब प्रकार प्रीत रखने लगे।

बाग से लौटने पर सुपर्णा के हृदय मे मोहन के लिए क्रोध पैदा हुआ। घरवालों ने सख्त निगरानी रखने के अलावा, डर के मारे उससे कुछ नहीं कहा। उसने भी विरोध किए बिना विवाह के बहाव में अपने को बहा दिया। मन मे यह प्रतिहिंसा लिए हुए कि मोहन इस बहते में मिलेगा और उसे हो सकेगा तो उचित शिक्षा देगी। शास्त्रीजो को एकान्त भक्त देख कर मन मे मुस्कराई।

सुपर्णा का जीवन शास्त्रीजी के लिए भी जीवन सिद्ध हुआ। शास्त्रीजी अपना कारोबार बढ़ाने लगे। सुपर्णा को वैद्यक की अनुवादित हिन्दी पुस्तकें

देने लगे, नाड़ी-विचार चर्चा आदि करने लगे। उस आग में तृण की तरह जल-जलकर जो प्रकाश देखने लगे, वह मर्त्य मे उन्हे दुर्लभ मालूम दिया। एक दिन श्रीमती गजानन्द शास्त्रिणी के नाम से स्त्रियों के लिए बिना फीसवाला रोग-परीक्षणालय खोल दिया—इस विचार से कि दवा के दाम मिलेंगे, फिर प्रसिद्धि होने पर फीस भी मिलेगी।

लेकिन ध्यान से सुपर्णा के पढ़ने का कारण कुछ और है। शास्त्रीजी अपनी मेज की सजावट तथा प्रतीक्षा करते रोगियों का समय काटने के विचार से 'तारा' के ग्राहक थे। एक दिन सुपर्णा 'तारा' के पन्ने उलटने लगी। मोहन की एक रचना छपी थी। यह उसकी पहली प्रकाशित कविता थी। विषय था 'व्यर्थ प्रणय'। बात बहुत कुछ मिलती थी। लेकिन कुछ निन्दा थी—जिस प्रेम के करने से कवि स्वर्ग से गिर जाता है;—उसी काव्य की प्रेमिका का उसमे वही प्रेम दर्शाया गया था। सुपर्णा चौंकी, फिर संयत हुई और नियमित रूप से 'तारा' पढ़ने लगी।

एक साल बीत गया। अब सुपर्णा हिन्दी मे मजे मे लिख लेती है। मोहन से उसका हाड़-हाड़ जल रहा था। एक दिन उसने पतिव्रत्य पर एक लेख लिखा। आजकल के छायावाद के सम्बन्ध में भी पढ़ चुकी थी और बहुत कुछ अपने पति से सुन चुकी थी। काशी हिन्दी के सभी वादों की भूमि है। प्रसाद काशी के ही है। उनके युवक पाठक शिष्य अनेक शास्त्रियों को बना चुके हैं। पं० गजानन्द शास्त्री गंगा नहाते समय कई बार तर्क कर चुके है, उत्तर भी भिन्न मुनि के भिन्न मत की तरह अनेक मिल चुके है। एक दिन शास्त्री जी के पूछने पर एक ने कहा—'छायावाद का अर्थ है शिष्टतावाद; छायावादी का अर्थ है सुन्दर-साफ वस्त्र और शिष्ट भाषा धारण करनेवाला, जो छायावादी है; वह सुवेश और मधुरभाषी है; जो छायावादी नही है वह काशी के शास्त्रियो की तरह अंगोछा पहननेवाला है या नंगा है।'—दूसरे दिन दो थे। नहा रहे थे। शास्त्रीजी भी नहा रहे थे। 'छायावाद क्या है!' शास्त्रीजी से पूछा। उन्होंने शास्त्रीजी को गंगा में गहरे मे ले जा कर डुबाना शुरू किया, जब कई कुल्ले पानी पी गये, तब छोड़ा, शिथिल होकर शास्त्रीजी किनारे आये; तब लड़कों ने कहा—

'यही है छायावाद।' फलतः शास्त्रीजी छायावाद और छायावादी से मौलिक घृणा करने लगे थे, और सन्यासी षोड़शी त्रिया को समझते रहे कि छाया-वाद यह है जिसमें कला के साथ व्यभिचार किया जाता है तरह-तरह से आइडिया के रूप में रंगी सुपर्णा जैसी ओजस्विनी लेखिका के लिए इतना बहुत था। आदि से अन्त तक उसके लेख मे प्राचीन पातिव्रत-धर्म और नवीन छायावादी व्यभिचार प्रचार के कण्ठ से बोल रहा था। शास्त्रीजी ने कई बार पढा और पत्नी को सती समझकर मन-ही-मन प्रसन्न हुए। वह लेख सम्पादक जी के पास भेजा गया। सम्पादक जी लेखिका-मात्र को प्रोत्साहित करते है, ताकि हिन्दी की मरुभूमि सरस होकर आबाद हो, इसलिए लेख या कविता के साथ चित्र भी छापते है। शास्त्रिणी जी को भी लिखा। प्रसिद्धि के विचार मे शास्त्री जी ने एक अच्छा-सा-चित्र उतरवा कर भेज दिया। शास्त्रिणी जी का दिल बढ़ गया, साथ ही उपदेश देनेवाली प्रवृत्ति भी।

इसी समय देश में आन्दोलन शुरू हुआ। पिकेटिंग के लिये देवियों की आवश्यकता भी हुई—पुरुषों का साथ देने के लिए भी। शास्त्रिणी जी की मारफत शास्त्री जी का व्यवसाय अभी तक न चमका था। शास्त्री जी ने पिकेटिंग मे जाने की आज्ञा दे दी। इसी समय महात्मा जी बनारस होते हुए कहीं जा रहे थे, कुछ घण्टों के लिए। शास्त्री जी की सलाह से एक जेवर बेंचकर, शास्त्रिणी जी ने दो सौ रुपये की थैली उन्हें भेंट की। तम-मन और धन से देश के लिए हुई इस सेवा का साधारण जनता पर असाधारण प्रभाव पड़ा। धन्य धन्य कहने लगे। शास्त्रिणी जी पूरी तत्परता मे पिकेटिंग करती रहीं। एक दिन पुलिस ने दूसरी स्त्रियो के साथ उन्हें भी ले जाकर एकान्त में, कुछ मील शहर से दूर, सन्ध्या समय छोड दिया। वहाँ से उनका मायका नजदीक था। रास्ता जाना हुआ था। लड़कपन मे वहाँ तक वह खेलने जाती थी, पैदल मायके चली गई। दूसरी देवियों से नहीं कहा, इसलिए कि ले जाना होगा और सबके लिए वहाँ सुविधा न होगी। प्रातःकाल देवियों की गिनती मे यह एक घटीं, संवाद-पत्रों ने हल्ला मचाया। ये तीन दिन बाद विश्राम लेकर मायके से लौटी,

और शोक संतप्त पतिदेव को और उच्छृंखल रूप से बड़बड़ाते हुए संवाद-पत्रों को शान्त किया—प्रतिवाद लिखा कि सम्पादकों को इस प्रकार अधीर नहीं होना चाहिये।

आन्दोलन के बाद इनकी प्रैक्टिस चमक गई। बड़ी देवियाँ आने लगीं। बुलावा भी होने लगा। चिकित्सा के लेख लिखना भी जारी रहा। यह बिलकुल समय के साथ थीं। एक बार लिखा—देश को छायावाद से जितना नुकसान पहुँचा है, उतना गुलामी मे नहीं। इनके विचारों का आदर नीति-रीतिज्ञों में क्रमशः जोर पकड़ता गया। प्रोग्रेसिव राइटर्स ने भी बधाइयाँ दीं और इनकी हिन्दी को आदर्श मान कर अपनी सभा मे सम्मिलित होने के लिए पूछा। अस्तु, शास्त्रिणीजी दिन-पर-दिन उन्नति करती गईं। इसी समय नया चुनाव शुरू हुआ। राष्ट्रपति ने कांग्रेस को वोट देने के लिए आवाज उठाई। हर जिले मे काग्रेसी उम्मीवार खड़े हुए। देवियाँ भी। वे मर्दों के बराबर है। शास्त्रीणीजी भी जौनपुर से खड़ी हो कर सफल हुईं। अब उनके सम्मान की सीमा न रही। एम० एल० ए० है। ''कौशल' मे उनके निबन्ध प्रकाशित होते थे। लखनऊ आने पर 'कौशल' के प्रधान सम्पादक एक दिन उनसे मिले और 'कौशल-कार्यालय' में पधारने के लिए प्रार्थना की। शास्त्रिणीजी ने गर्वित स्वीकारोक्ति दी।

'कौशल-कार्यालय' सजाया गया। शास्त्रिणी जी पधारीं। मोहन एम० ए० होकर यहाँ सहकारी है, लेकिन लिखने मे हिन्दी में अकेला। शास्त्रिणी जी ने देखा। मोहन ने उठकर नमस्कार किया। 'आप यहाँ !'—शास्त्रिणी जी ने प्रश्न किया। 'जी हाँ'—मोहन ने नम्रता से उत्तर दिया—'यहाँ सहायक हूँ।' शास्त्रिणी जी उद्धत हो हँसी। उपदेश के स्वर में बोलीं—'आप गलत रास्ते पर थे।'

शिव पूजन सहाय

[**जन्म**—सन् १८९३ ई०]

बिहार प्रान्त के निस्पृह साहित्यसेवी श्री शिवपूजन सहाय वर्त्तमान हिन्दी-संसार के संतों में से एक है। आप सफल अध्यापक, आलोचक, कहानीकार तथा सम्पादक है। आप मे साहित्यनिर्माण की जितनी क्षमता है, उतनी ही साहित्यकार बनाने और पहिचानने की भी। सरल परिष्कृत भाषा मे आप सजीव चित्र उतारने मे अत्यन्त ही सफल रहे है। 'बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्' के आप प्रधान मंत्री रहे है। उस पद से साहित्य-निर्माण का जो आयोजन आप कर रहे है, उसका गौरव स्थायी है। आप 'जागरण' साहित्य और 'हिमालय' जैसे पत्रों के सम्पादक रहे है और इस समय साहित्य की मौन सेवा कर रहे है।

[प्रस्तुत कहानी अपनी स्वतंत्र मौलिक विशेषता रखती है। यह कहानी जीवन-दर्शन के शाश्वत तथ्य को उपस्थित करती है। नारी के रूप-आकर्षण और पुरुष के लोक-कर्त्तव्य का संघर्ष सनातन है। प्रायः रूप की ज्वाला कर्त्तव्य को जलाने में प्रज्वलित अग्नि का कार्य करती है, पर व्यापक कर्त्तव्य के लिए रूप की आहुति भारतीय जीवन की सनातन विशेषता रही है। इस सत्य को ऐतिहासिक भित्ति पर प्रतिष्ठित कर लेखक ने केवल भारतीय आदर्श की जीवन के कर्त्तव्य-पथ पर प्रतिष्ठा की है, अपितु रूप, प्रेम और कर्त्तव्य की धात्री भारतीय पत्नी द्वारा प्राणोत्सर्ग करा कर, पुरुष में सतत कर्त्तव्य चेतना दीप्त कराने का सफल प्रयत्न कर, लोक-मंगल का हृदयमोहक विधान भी किया है। दुरुस्त-चुस्त टकसाली भाषा और अपनी शैली के लिए तो लेखक की ख्याति स्थायी महत्त्व की है ही।]

[१]

आज उदयपुर के चौक में चारों ओर बड़ी चहल-पहल है। नवयुवकों में नवीन उत्साह उमड़ उठा है। मालूम होता है कि किसी ने यहाँ के कुओं मे उमंग की भंग घोल दी है। नवयुकों की मूँछों मे ऐंठ भरी हुई है। आँखों मे ललाई छा गयी है। सबकी पगड़ो पर देशानुराग की कलँगी लगी हुई है। हर तरफ से वीरता की ललकार सुन पड़ती है। बाँके-लड़ाके वीरों के कलेजे रण-भेरी सुनकर चौगुने होते जा रहे है। नगाड़ों से तो नाको मे दम हो चला है। उदयपुर की धरती, धोसे की धुधुकार से डगमग कर रही है। रणरोष से भरे हुए घोड़े डंके की चोट पर उड़ रहे है। घंटों की आवाज से समूचा नगर गूँज रहा है। शस्त्रों की झनकार से शंखों के शब्द से दसों दिशाएँ सरल-शब्दमयी हो रही है। बड़े अभिमान से फहराती हुई विजय-पताका राजपूतों की कीर्ति-लता-सी लहराती है। स्वच्छ आकाश के दर्पण मे अपने मनोहर मुखड़े निहारनेवाले महलों की ऊँची-ऊँची अटारियों पर चारों ओर सुन्दरी-सुहागिनियाँ और कुमारी कन्याएँ भर-भर अंचल फूल लिये खडी हैं, सूरज की चमकीली किरणों की उज्ज्वल धारा से धोये हुए आकाश में चुभनेवाले कबलस, महलों के मुँड़ेरों पर मुस्कुरा रहे है। बन्दीवृन्द विशद विरुदावली बखानने में व्यस्त हैं।

महाराणा राजसिह के समर्थ सरदार चूड़ावतजी आज औरंगजेब का दर्प दलन करने और उसके अन्धा-दुन्ध अन्धेर का उचित उत्तर देने जाने-वाले हैं। यद्यपि उनकी अवस्था अभी अठारह वर्ष से अधिक नहीं है; तथापि जंगी जोश के मारे वे इतने फूल गये है कि कवच में नहीं अँटते। उनके हृदय मे सामरिक उत्तेजना की लहर लहरा रही है। घोड़े पर सवार होने के लिए वे ज्यों ही हाथ मे लगाम थामकर उचकना चाहते है, त्यों ही अनायास उसकी दृष्टि सामनेवाले महल की झँझरीदार खिड़की पर, जहाँ उनकी नवोढ़ा पत्नी खड़ी है' जा पड़ती है।

हाड़ा-वंश की सुलक्षण, सुशीला और सुन्दरी सुकुमारी कन्या से आप का ब्याह हुए दो-चार दिनों से अधिक नहीं हुआ होगा। अभी नवोढ़ा रानी के हाथ का कंकण हाथ ही की शोभा बढ़ा रहा है। अभी कजरारी आँखें अपने ही रंग मे रंगी हुई है। पीत-पुनीत चुनरी भी अभी धूमिल नहीं होने पाई है। सोहाग का सिन्दूर दुहराया भी नही गया है। फूलों की सेज छोड़ कर और कहीं गहनों की झनकार भी नहीं सुन पड़ी है। अभी पायल की रुन-झुन ने महल के एक कोने मे ही बीन बजायी है। अभी घने पल्लवों की आड़ मे ही कोयल कुहकती है। अभी कमल-सरीखे कोमल हाथ पूजनीय चरणों पर चन्दन ही भर चढ़ा पाये है। अभी संकोच के सुनहरे सीकड़ मे बँधे हुए नेत्र लाज ही के लोभ में पडे हुए हैं। अभी चाँद बादल ही के अन्दर छिपा हुआ था; किन्तु नहीं, आज तो उदयपुर की उदित-विदित शोभा देखने के लिए घन-पटल मे से अभी-अभी वह प्रकट हुआ है।

चूड़ावती, हाथ में लगाम लिए हुए, बादल के जाल से निकले हुए उस पूर्णचन्द्र पर टकटकी लगाये खड़े है। जालीदार खिड़की से छन-छन कर आनेवाली चाँद की चटकीली चाँदनी ने चूड़ावत-चकोर को आपे मे बाहर कर दिया है! हाथ का लगाम हाथ ही मे है, मन की लगाम खिड़की मे है! नये प्रेम-पाश का प्रबल बन्धन प्रतिज्ञा-पालन का पुराना बन्धन ढीला कर रहा है! चूडावतजी का चित्त चंचल हो चला। वे चटपट चन्द्रभवन की ओर चल पड़े। वे यद्यपि चिन्ता मे चूर है, पर चन्द्र-दर्शन की चोखी चाट लग रही है। वे संगमर्मरी सीढ़ियों के सहारे चन्द्र-भवन पर चढ़ चुके; पर जीभ का जकड़ जाना जो को जला रहा है।

हृदय-हरिणी हाडी रानी भी, हिम्मत की हद करके, हल्की आवाज से, बोलीं—"प्राणनाथ! मन मलिन क्यों है? मुखारविन्द मुर्झाया क्यों है? क्यों न तन में तेज ही देखती हूँ, न शरीर मे कान्ति ही! ऐसा क्यों? भला, उत्साह की जगह उद्वेग का क्या काम है? उमंग मे उदासीनता कहाँ से चू पड़ी? क्या कुछ शोक-संवाद सुना है? जब कि सभी सामन्त-सूरमा, संग्राम के लिये, सज धजकर आप ही की आज्ञा की आशा में अटके हुए है, तब क्या कारण है कि आप व्यर्थ व्याकुल हो उठे। उदयपुर के

बाजे गाजे के तुमुल शब्द से दिग्दिगन्त डोल रहा है ! वीरों के हुंकार से कायरों के कलेजे भी बड़े हो रहे हैं। भला ऐसे अवसर पर आपका चेहरा क्यों उतरा हुआ है ? लड़ाई की ललकार सुनकर लँगड़े-लूलों को भी लड़ने-भिड़ने की लालसा लग गयी है, फिर आप तो क्षात्र-तेज से भरे हुए क्षत्रिय हैं। प्राणनाथ ! शूरों को शिथिलता नहीं शोभती। क्षत्रिय का छोटा-मोटा छोकरा भी क्षण भर में शत्रुओं को छोल-छाल कर छुट्टी कर देता है, पन्तु आप प्रसिद्ध पराक्रमी होकर क्यों पस्त पड़ गये ?"

चूडावत चन्द्रमा में चपला की-सी चमक-दमक देख, चकित हो कर बोले—"प्राणप्यारी ! रूपनगर के राठौरवंश की राजकुमारी को दिल्ली का बादशाह बलात्कार से व्याहने आ रहा है। उसके पहले ही वह राज-कन्या हमारे माननीय राणाबहादुर को वर चुकी है। कल पौ फटते ही राणाजी रूपनगर की राह लेंगे। हम बीच ही मे बादशाह की राह रोकने के लिए रण-यात्रा कर रहे हैं। शूर-सामन्तों की सैकड़ों सजीली सेनाएँ साथ मे है सही; परन्तु इस लड़ाई से अपने लौटने का लक्षण नही देख रहे हैं। फिर कभी भर-नजर तुम्हारे चन्द्र-वदन को देख पाने की आशा नहीं है। इस बार घनघोर युद्ध छिड़ेगा। हम लोग मन लगाकर, जी-जान से लड़ेंगे। हजारों हमले हड़प जायँगे। समुद्र-सी सेना भी मथ डालेंगे। हिम्मत हर्गिज़ न हारेंगे। फौलाद-सी फौज को फौरन फाड़ डालेंगे। हिम्मत तो हजार गुनी है, मगर मुगलों की मुठभेड़ में महज मुट्ठी भर मेवाड़ वीर क्या कर सकेंगे ? तो भी हमारे ढलैत, कमनैत और बानैत ढाढ़स बाँध कर डट जायँगे। हम सत्य की रक्षा के लिए पुर्जे-पुर्जे कट जायँगे प्राणेश्वरी ! किन्तु हमको केवल तुम्हारी ही चिन्ता बेढब सता रही है। अभी चार ही दिन हुए कि तुम-सी सुहागिनी दुल्हिन हमारे हृदय में उजेला करने आयी है। अभी किसी दिन तुम्हें इस तुच्छ संसार की क्षणिक छाया में विश्राम करने का भी अवसर नहीं मिला है ! किस्मत की करामात है ! एक ही गोटी मे सारा खेल मात है ! किसे मालूम था कि तुम-सी अनूप-रूपा कोमलांगी के भाग्य में ऐसा भयङ्कर लेख होगा ! अचानक रङ्ग में भङ्ग होने की आशा कभी सपने में भी न थी !

किन्तु ऐसे ही अवसरों पर हम क्षत्रियों की परीक्षा हुआ करती है । संसार के सारे सुखों की तो बात ही क्या, प्राणों की भी आहुति देकर क्षत्रियों को अपने कर्त्तव्य का पालन करना पड़ता है ।"

हाड़ी रानी, हृदय पर हाथ धर कर बोली—"प्राणनाथ ! सत्य और न्याय की रक्षा के लिए, लड़ने जाने के समय, सहज-सुलभ सांसारिक सुखों की बुरी वासना को मन में घर करने देना आप के समान प्रतापी क्षत्रिय-कुमार का काम नहीं है। आप आपात मनोहर सुख के फन्दे में फँस कर अपना जातीय कर्त्तव्य मत भूलिए। सब प्रकार की वासनाओं और व्यसनों से विरक्त होकर इस समय केवल वीरत्व धारण कीजिए। मेरा मोह-छोड़ दीजिए । भारत की महिलाएँ स्वार्थ के लिए सत्य का संहार करना नही चाहती । आर्य-महिलाओं के लिए समस्त संसार की सारी सम्पत्तियों से बढकर 'सतीत्व ही अमूल्य धन है !' जिस दिन मेरे तुच्छ सांसारिक सुखों की भोग-लालसा के कारण मेरी एक प्यारी बहन का सतीत्व-रत्न लुट जायगा, उसी दिन मेरा जातीय गौरव अरावली-शिखर के ऊँचे मस्तक से गिर कर चकनाचूर हो जायगा। यदि नव-विवाहिता उर्मिला देवी ने वीर-शिरोमणि लक्ष्मण को सांसारिक सुखोपभोग के लिए कर्त्तव्य-से विमुख कर दिया होता तो, तो क्या कभी लखनलाल को अक्षय यश लूटने का अवसर मिलता ? और वीर-वधूटी उत्तरा देवी ने यदि अभिमन्यु को भोग-विलास के भयङ्कर बन्धन में जकड़ दिया होता तो क्या वे वीर-दुर्लभ गति को पा कर भारतीय क्षत्रिय-नन्दनों में अग्रगण्य होते ? मैं समझती हूँ कि यदि तारा की बात मान कर बाली भी, घर के कोने में मुँह छिपा कर, डरपोक जैसा छिपा हुआ रह गया होता, तो उसे वैसी पवित्र मृत्यु कदापि नसीब न होती। सती शिरोमणि सीता देवी की सतीत्व-रक्षा के लिए जर-जर्जर जटायु ने अपनी जान तक गँवायी जरूर; लेकिन उसने जो कीर्ति कमाई और बधाई पाई सो आज तक किसी कवि की कल्पना में भी नहीं समाई। वीरों का यह रक्त-मांस का शरीर अमर नहीं होता; बल्कि उनका उज्ज्वल-यशोरूपी शरीर ही अमर होता है। विजय-कीर्ति ही उनकी अभीष्ठ-दायिनी कल्पलतिका है। दुष्ट शत्रु का रक्त ही उनके लिए शुद्ध गंगाजल

से भी बढ़कर है। सतीत्व के अस्तित्व के लिए रणभूमि में व्रजमंडल की-सी होली मचानेवाली खड्ग-देवी ही उसकी सती सहगामिनी है। आप सच्चे राजपूत वीर है; इसलिए सोत्साह जाइये और जा कर एकाग्र मन से अपना कर्त्तव्य पालन कीजिये। मैं भी यदि सच्ची राजपूत-कन्या हूँगी तो शीघ्र ही आपसे स्वर्ग में जा मिलूँगी; विलम्ब करने का समय नहीं है।"

चूड़ावत जी का चित्त हाड़ी रानी के हृदयरूपी हीरे को परख कर पुलकित हो उठा। प्रफुल्लित-मन से भरे चूड़ावत जी ने रानी को बार-बार गले लगाया। मानो वे उच्च भावों से भरे हुए, हाड़ी रानी के हृदय-पाश के स्पर्श से अपना लौह-कलश हृदय सुवर्णमय बना रहे हों। सचमुच, ऐसे ही हृदयों के आलिंगन से मिट्टी की काया भी कंचन की हो जाती है। चूड़ावतजी आप से आप कह उठे—"धन्य देवि! तुम्हारे विराजने के लिये वस्तुतः हमारे हृदय में बहुत ही ऊँचा सिंहासन है। अच्छा, अब हम मर कर अमर होने जाते हैं। देखना, प्यारी! कहीं ऐसा न हो कि—" (कंठ गद्गद् हो गया)।

रानी ने फिर उन्हे आलिंगन करके कहा—"प्राणप्यारे! इतना अवश्य याद रखिए कि छोटा बच्चा चाहे आसमान छू ले, सीपी में संभवतः समुद्र समा जाय, हिमालय हिल जाय तो हिल जाय; पर भारत की सती देवियाँ अपने प्रण से तनिक भी नही डिग सकतीं।"

चूडावत जी प्रेम-भरी नजरों से एकटक रानी की ओर देखते-देखते सीढ़ी से उतर पड़े। रानी सतृष्ण नेत्रों से ताकती रह गयीं।

चूड़ावतजी घोड़े पर सवार हो रहे हैं। डंके की आवज घनी होती जा रही है। घोड़े फड़क-फड़क कर अड़ रहे है। चूड़ावतजी का प्रशस्त ललाट अभी तक चिन्ता की रेखाओं से कुंठित है। रतनारे लोचन ललाम रण-रस में पगे हुए है।

उधर रानी विचार कर रही है—"मेरे प्राणेश्वर का मन मुझमें ही यदि लगा रहेगा तो विजय-लक्ष्मी किसी प्रकार उनके गले में जयमाल नहीं डालेगी। उन्हे मेरे सतीत्व पर संकट आने का भय है। कुछ अंशों में यह स्वाभाविक भी है।"

इसी विचार-तरंग में रानी डूबती-उतराती है। तब तक चूड़ावती का अंतिम संवाद ले कर आया हुआ एक प्रिय सेवक विनम्र भाव से कह उठता है—"चूड़ावतजी चिह्न चाहते हैं—दृढ आशा और अटल विश्वास का। संतोष होने योग्य कोई अपनी प्यारी वस्तु दीजिये। उन्होंने कहा है कि 'तुम्हारी आत्मा हमारे शरीर में बैठकर इसे रणभूमि की ओर लिये जा रही है। हम अपनी आत्मा तुम्हारे शरीर में छोड़कर जा रहे है।"

स्नेह-सूचक संवाद सुन कर रानी अपने मन में विचार रही है—"प्राणेश्वर का ध्यान जब तक इस तुच्छ शरीर की ओर लगा रहेगा तब तब निश्चय ही वे कृतकार्य नही होंगे।" इतना सोच कर बोलीं, "अच्छा खड़ा रह, मेरा सिर लिए जा।"

जब तक सेवक "हाँ ! हाँ !" कह कर चिल्ला उठता है, तब तक दाहिने हाथ मे नंगी तरवार और बायें हाथ मे लच्छेदार केशोवाले मुंड लिये हुए रानी का धड़, विलास-मन्दिर के संगमर्मरी फर्श को सती-रक्त से सींच कर पवित्र करता हुआ, धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा।

बेचारे भय-चकित सेवक ने यह 'दृढ़ आशा और अटल विश्वास का चिह्न' काँपते हुए हाथों से लेजा कर चूड़ावत जी को दे दिया। चूड़ावतजी प्रेम से पागल हो उठे। अपूर्व आनन्द से मस्त हो कर ऐसे फूल गये कि कवच की कड़ियाँ धड़ाधड़ कड़क उठीं।

सुगन्धों से सींचे हुए मुलायम बालों के गुच्छों को दो हिस्सों मे चीर कर चूड़ावतजी ने उस सौभाग्य-सिन्दूर से भरे हुए, सुन्दर शीश को गले मे लटका लिया। मालूम हुआ, मानों स्वयं भगवान् रुद्रदेव भीषण भेष धारण कर शत्रु का नाश करने जा रहे हैं। सबको भ्रम हो उठा कि गले में काले नाग लिपट रहे हैं या लम्बी-लम्बी सटाकार लटें है। अटारियों पर से सुन्दरियों ने भर-भर अंजली फूलों की वर्षा की। मानो स्वर्ग की मानिनी अप्सराओं ने पुष्पवृष्टि की हो। बाजे-गाजे के साथ घहराता हुआ आकाश फाड़ने वाला एक गम्भीर स्वर चारों ओर से गूँज उठा—"धन्य मुंडमाल ! ! !"

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

[जन्म—सन् १९०१ ई०]

आप एक मौलिक आकर्षण ले कर हिन्दी-जगत् में आये। इन को रचनाओं को लेकर हिन्दी में अधिक विवाद चला, किन्तु कलम को आकर्षक भाव-भंगिमा और अनूठी शैली ने सभी को आकृष्ट किया। प्रभावोत्पादक तथा दमदार भाषा लिखने में आप बेजोड़ लोगों में प्रथम है।

आपका जन्म जिला मिर्जापुर के चुनार नामक स्थान में एक ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा काशी में हुई। बचपन यहीं व्यतीत हुआ। पढ़ने-लिखने में आपका अधिक मन नहीं लगता था। मनमौजी व्यक्तित्व के लिए स्कूली बन्धन असह्य था। असहयोग-आन्दोलन के समय आपने स्कूल छोड़ दिया।

साहित्य के सभी क्षेत्रों में आपने सफल प्रयास किये। नाटक, प्रहसन, कविता, कहानी आपने सब कुछ लिखा और सब सफल भी हुआ। आप साहित्य मे यथार्थवादी शैलो के प्रवर्त्तकों में अन्यतम हैं।
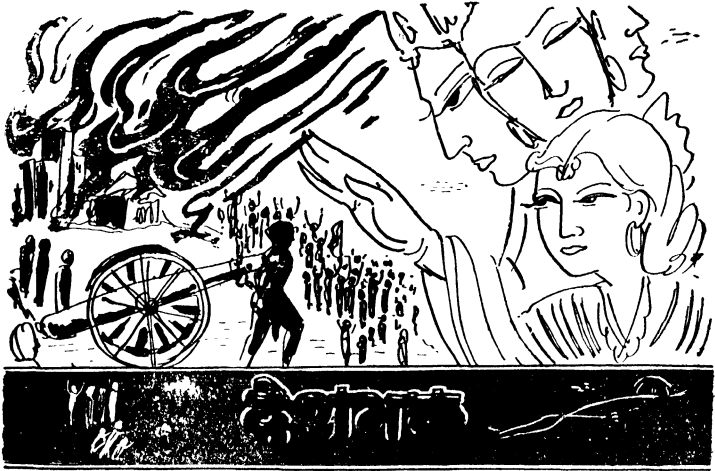
['उग्र' जी की मौलिक प्रतिभा के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत कहानी निर्विवाद रूप से रखी जा सकती हैं। पौराणिक कथा-पद्धति को युग के अनुरूप नयी शैली मे प्रस्तुत कर युग के एक विराट सत्य 'देशभक्त' की महत्ता की ओर जिस प्राणवान् शैली में लेखक ने ध्यान आकृष्ट किया है, वह अपने ढंग का तो है ही, अनूठा भी है। तत्कालीन देशभक्तों के जीवन की श्रेष्ठता प्रमाणित कर जहाँ कहानीकार देश-प्रेम की भावना जन-जीवन में प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयत्न करता है, वहीं देशभक्तों के कृतित्व के प्रति जनता में श्रद्धार्जन की भाव-व्यवस्था का प्रबन्ध भी कर देश के तत्कालीन राष्ट्रीय तत्त्वों को प्रेरणा भी देता है। तत्कालीन राष्ट्रीय भावनाओं की जन-मन में कहानियों द्वारा प्रतिष्ठा करने का यह सफल प्रयत्न सम्भवतः सर्वप्रथम उग्रजी ने हिन्दी में किया है। भाषा मुहावरेदार, चुस्त-दुरुस्त तो है ही; सूक्तियों, लोकोक्तियों एवं मुहावरों का विधान भी सजीव चुम्बक की भाँति सटीक हुआ है। यह कहानी अपने गुण-धर्म के कारण 'उग्र' जी की श्रेष्ठ कहानियों में अपना विशिष्ट स्थान रखती है।]

'स्वामिन्, आज कोई सुन्दर सृष्टि करो ? किसी ऐसे प्राणी का निर्माण करो जिसकी रचना पर हमें गौरव हो सके । क्यों ?'

'सचमुच प्रिये, आज तुम्हें क्या सूझा जो सारा धन्धा छोड़ कर यहाँ आई हो, और मेरी सृष्टि-परीक्षा लेने को तैयार हो ?'

'तुम्हारी परीक्षा, और मै लूँगी ? हरे, हरे ! मुझे व्यर्थ ही काँटों में क्यों घसीट रहे हो नाथ ? यों ही बैठी-बैठी तुम्हारी अद्भुत रचना 'मृत्यु-लोक' का तमाशा देख रही थी । जब जी ऊब गया, तब तुम्हारे पास चली आई हूँ । अब संसार में मौलिकता नहीं दिखाई पड़ती । वही पुरानी गाथा चारों ओर दिखाई सुनाई पड़ रही है । कोई रोता है, कोई खिलखिलाता है; एक प्यार करता है, दूसरा अत्याचार करता हैं; राजा धीरे-धीरे भीख माँगने लगता है और भिक्षुक शासन करने ! इन बातों मे मौलिकता कहाँ ? इसलिए प्रार्थना करती हूँ कोई मनोरञ्जन सृष्टि सँवारो । संसार के अधिकतर प्राणी तुम को शाप ही देते है, एक बार आशीर्वाद भी लो ।'

'अच्छी बात है, इस समय चित्त भी प्रसन्न है । किसी से मानव-सृष्टि की आवश्यक सामग्रियाँ यहीं मँगवाओ । आ मैं तुम्हारे सामने ही तुम्हारी सहायता मैं सृष्टि करूँगा ।

'मै; और तुम को सहायता दूँगी ? तब रहने दो, हो चुकी सृष्टि ! सृष्टि करने की योग्यता यदि मुझमें होती तो मैं तुम को कष्ट देने के लिए यहाँ आती ?'

'नाराज क्यों होती हो भाई ? तुमसे पुतला तैयार करने को कौन कहता है ? तुम यहाँ चुपचाप बैठी रहो । हाँ कभी-कभी मेरी ओर मेरी कृति की ओर अपने मधुर कटाक्ष को फेर दिया करना । तुम्हारी इतनी ही सहायता से मेरी सृष्टि मे जान आ जायगी, समझी ?'

'समझी ! देखती हूँ तुम्हारी आदत भी कलियुगी बूढ़ों-सी हुई जा रही है । अभी तक आँखों में जवानी का नशा छाया हुआ है ।'

'और तुम्हारी आदत तो बहुत ही अच्छी हुई जा रही है। बूढ़ों खवासों की युवती कामनियों की तरह जब होता है तभी 'खाँव-खाँव' किया करती हो। चलो, जल्दी करो, सब चीजें मंगवाओ।'

[२]

क्षिति, जल, अग्नि, आकाश और पवन के सम्मिश्रण से विधाता ने एक पुतला तैयार किया। इसके बाद उन्होंने सबसे पहले तेज को बुला कर उस पुतले में प्रवेश करने को कहा। तेज के बाद सौन्दर्य, दया, करुणा, प्रेम, विद्या, बुद्धि, बल, सन्तोष, साहस, उत्साह, धैर्य गम्भीरता आदि समस्त सद्गुणों से उस पुतले को सजा दिया। अन्त में आयु और भाग्य की रेखाएँ बनाने के लिए ज्यों ही विधाता ने लेखनी उठायी, त्यों ही ब्राह्मणी ने रोका—'सुनिये भी, इसके भाग्य में क्या लिखने जा रहे हैं, और आयु कितनी दीजियेगा?'

'क्यों? तुमको इन बातों से मतलब? तुम्हें तो तमाशा भर देखना है, वह देख लेना। भौंहें तनने लगीं न? अच्छा लो सुन लो। इसके भाग्य में लिखी जा रही है—भयंकर दरिद्रता, दुःख, चिन्ता और इसकी आयु होगी बीस वर्षों की!'

अरे, यह क्या तमाशा कर रहे हैं? बल, साहस, दया, तेज, सौन्दर्य, विद्या बुद्धि आदि गुणों को देने के बाद दरिद्रता, दुःख और चिन्ता आदि के देने की क्या आवश्यकता है, फिर सृष्टि को देख कर लोग आप की प्रशंसा करेंगे या गालियाँ देंगे! फिर केवल बीस वर्षो की अवस्था! इन्हीं कारणों से मर्त्य-लोक के कवि आप की शिकायत करते हैं। क्या फिर किसी से 'नाम चतुरानन पै चूकते चले गये!' लिखवाने का विचार है।'

विधाता ने मुस्करा कर कहा—'अब तो रचना हो गई है। चुपचाप तमाशा भर देखो। इसकी आयु इसलिए कम रखी है जिसमें तमाशा जल्द दिखाई पड़े।'

ब्राह्मणी ने पूछा—'इसे मर्त्यलोकवाले किस नाम से पुकारेंगे!'

प्रजापति ने गर्व-भरे स्वर में उत्तर दिया—'देशभक्त!'

[३]

अमरावती से इन्द्र ने, कैलास से शिव ने, वैकुण्ठ से कमलापति ने—संसार-रंगमंच पर देशभक्त का प्रवेश उस समय देखा, जब उसकी अवस्था उन्नीस वर्ष की हो गयी। इसमे कोई आश्चर्य की बात नहीं। देव-मण्डली का एक-एक दिन हमारी अनेक शताब्दियों से भी बड़ा होता है। हमारे उन्नीस वर्ष तो उनके कुछ मिनटों से भी कम थे।

देशभक्त के दर्शनों से भगवान् कामारि प्रसन्न हो कर नाचने लगे। उन्होंने अपनी प्राणेश्वरी पार्वती का ध्यान देशभक्त की ओर आकर्षित करते हुए कहा—'देखो, यह स्रष्टा की अभूतपूर्व रचना है, कोई भी देवता देशभक्त के रूप मे परलोक मे जा कर अपने को धन्य समझ सकता है। प्रिये, इसे आशीर्वाद दो।' प्रसन्नवदना उमा ने कहा—'देशभक्त की जय हो।'

एक दिन देशभक्त के तेजपूर्ण मुखमंडल पर अचानक कमला की दृष्टि पड गई। उस समय वह (देशभक्त) हाथ मे पिस्तौल लिये किसी देश-द्रोही का पीछा कर रहा था। इन्द्रिरा ने घबरा कर विष्णु को उस की ओर आकर्षित करते हुए कहा—"यह कौन है? मुख पर इतना तेज—ऐसी पवित्रता और करने जा रहे हैं, राक्षसी कर्म—हत्या! यह कैसी लीला है लीलाधर!" विष्णु ने कहा—चुपचाप देखो। 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतान्, धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।" यदि वह—देशभक्त—राक्षसी काम करने जा रहा है, तो राम, कृष्ण, प्रताप, शिवा, गोविन्द, नैपोलियन सबने राक्षसी कार्म किया है। देवी, इन्हें प्रणाम करो! यह कर्त्ता की पवित्र कृति है।"

:o: :o: :o: :o:

हाथ की पिस्तौल देशद्रोही के मस्तक के सामने कर, देशभक्त ने कहा—'मूर्ख! पश्चात्ताप कर, देश-द्रोह से हाथ खींच कर मातृसेवा की प्रतिज्ञा कर। नहीं तो मरने के लिए तैयार हो जा।'

देशद्रोही के मुख पर घृणा और अभिमान से मुस्कराहट दौड़ गई। उसने शासन के स्वर में उत्तर दिया—

'अज्ञानी सावधान ! हम शासकों के लाड़ले है। हमारे माँ-बाप और ईश्वर सर्वशक्तिमान् सम्राट् हैं। सम्राट् के सम्मुख देश की बड़ाई !'

'अन्तिम बार पुनः कह रहा हूँ, माता की जय ! बोल; अन्यथा इधर देख !'—देश भक्त की पिस्तौल गरजने के लिए तैयार हो गई।

सिर पर संकट देख कर, देशद्रोही ने अपने जेब से सीटी निकाल कर जोर से बजाई। जान पड़ता है, देशद्रोहियों का दल देशभक्त की ओर लपका ! फिर क्या था देशभक्त की पिस्तौल गरज उठी। क्षण-भर मे देशद्रोहियो का सरदार, कबूतर की तरह पृथ्वी पर लोटने लगा। गिरफ्तार होने के पूर्ण सफल-प्रयत्न देशभक्त आनन्द-विभोर होकर चिल्ला उठा—माता की जय हो !"

काँपते हुए इन्द्रासन ने, पुष्पवृष्टि करते हुए नन्दन कानन ने, तांडव नृत्य मे लीन रुद्र ने, कलकल करती हुई सुरसरिता ने एक स्वर से कहा—'देश-भक्त की जय हो !

विधाता प्रेम-गद्गद् होकर ब्राह्मणी से बोले—'देखती हो देशभक्त के चरणस्पर्श से अभागा कारागार अपने को स्वर्ग समझ रहा है। लोहे की कड़ियो ने, हथकड़ी-बेड़ियो ने—मानो सारस पी लिया है, संसार के हृदय में प्रसन्नता का समुद्र उमड़ रहा है, वसुन्धरा फूली नहीं समाती ! यह है मेरी कृति, यह है मेरी विभूति—प्रिये गाओ, मङ्गल मनाओ, आज मेरी लेखनी धन्य हुई ! ! !'

[४]

जिस दिन देशभक्त के जीवन का अन्तिम पृष्ठ लिखा जानेवाला था उस दिन स्वर्गलोग मे आनन्द का अपार पारावार उमड़ रहा था। त्रिंश कोटि देवागनाओं की थालियों को उदार कल्पवृक्ष ने अपने पुष्पों से भर,

दिया था, अमरावती ने अपना अपूर्व शृंगार किया था, चारो ओर मंगल-गान गाये जा रहे थे।

समय से बहुत पहले ही देवतागण विमान पर आरूढ़ हो कर आकाश मे विचरने और देशभक्त की प्रतीक्षा करने लगे।

:o: :o: :o: :o:

सम्राट् के समर्थक भीषण शास्त्रास्त्रों से सुसज्जित हो कर एक बडे मैदान मे खड़े थे। देशभक्त पर 'सम्राट् के प्रति विद्रोह' का अपराध लगा कर न्याय का नाटक खेला जा चुका था। न्यायाधीश की यह आज्ञा सुनायी जा चुकी थी कि 'या तो देशभक्त अपने कर्मो के लिए पश्चात्ताप प्रकट करे, सम्राट् की जय घोषणा करे, या तोप से उड़ा दिया जाय।' देशभक्त पश्चात्ताप क्यों करता? अत: उसे सम्राट् के सैनिकों ने जंजीरों मे कस कर तोप के सम्मुख खड़ा कर दिया!

सम्राट् के प्रतिनिधि ने कहा—

'अपराधी! न्याय की रक्षा के लिए अंतिम बार फिर कहता हूँ—सम्राट् की जय घोषणा कर पश्चात्ताप कर ले!'

मुस्कराते हुए देशभक्त बन्दी ने कहा—

'तुम अपना काम करो, मुझमे पश्चाताप की आशा व्यर्थ है। तुम मुझसे 'सम्राट् की जय' कहलाने के लिए क्यों मरे जा रहे हो? सच्चा सम्राट् कहाँ है? तुम्हारे कहने से संसार के लुटेरों को मै कैसे सम्राट् मान लूं? सम्राट् मनुष्यता का द्रोही हो सकता है? सम्राट् न्याय का गला घोंट सकता है? सम्राट् रक्त का प्यासा हो सकता है? भाई, तुम जिसे सम्राट् कहते हो, उसे मनुष्यता और मनुष्यता के उपासक 'राक्षस' कहते है। फिर सम्राट् की जय घोषणा कैसी? तुम मुझे तोप से उड़ा दो—इसी मे सम्राट् का मंगल है इसी से उस के पापो का घड़ा फूटेगा और उसे मुक्ति मिलेगी!'

:o: :o: :o: :o:

देव-मण्डल के बीच में बैठी हुई माता मनुष्यता की गोंद में बैठ के देशभक्त ने और साथ ही त्रिंश कोटि देवताओं ने देखा, पंचतत्त्व के एक पुतले को अत्याचार के उपासकों ने तोप से उड़ा दिया !

उस पुतले के एक-एक कण को देवताओं ने मणि की तरह लूट लिया। बहुत देर तक देवलोक 'देशभक्त की जय !' से मुखरित रहा !
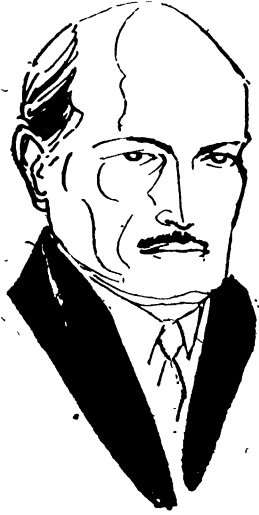
वृन्दावनलाल वर्मा

[जन्म—सन् १८८८ ई०]

यद्यपि कथा के क्षेत्र में श्री वृन्दावनलाल वर्मा का प्रवेश बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में ही हुआ, किन्तु उनकी आधुनिक ढंग की कहानी १९२३ ई० में प्रकाशित हुई। आपकी शिक्षा-दीक्षा झाँसी में हुई। आप वहीं वकालत कर रहे है। हिन्दी मे आपकी ख्याति ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में है। ऐतिहासिक उपन्यास के रूप मे आपके जैसी कथा कहने वाला दूसरा कोई व्यक्ति नहीं दीखता। यद्यपि आपकी भाषा भी व्याकरण के दोष से मुक्त नहीं है, तो भी सीधी-सहज शैली मे आदर्श प्रतिष्ठापक कहानी लिखेने में आपकी सफलता महत्त्व की है। आपका साहित्य जितना पुरस्कृत हो सम्मानित हुआ सम्भवतः उतना हिन्दी के किसी अन्य लेखक का नहीं। आपकी प्रस्तुत कहानी उत्तर-प्रदेश सरकार के सूचना-विभाग द्वारा प्रकाशित 'त्रिपथगा' से ली गयी है।

[बाबू वृन्दावनलाल वर्मा हिन्दी के पहले खेवे के कहानीकारों मे से है । 'डाकू की ममता' शीर्षक कहानी जीवन की सत्य घटना पर आधृत लगती है । इस कहानी का प्रतिपाद्य समस्यामूलक है और वह समस्या है—क्या गिरे हुये को नही उठाया जा सकता ? डाकू, जो हत्यारे और बर्बर होते हैं, वे भी उनसे बडा हृदय रखते है जो अपने को सभ्य कहते है । लूट मे मिली एक पुस्तक को पढ कर जो प्रभाव एक डाकू के हृदय पर पड़ा, पह पढे-लिखे लोगों के हृदय पर नहीं पड़ पाता । फिर भी वह दर-दर की ठोकरें खाते फिरते है, छिपे फिरते है, घृणित समझे जाते है । तो क्या ऐसी स्थिति में यह सम्भव नहीं है कि उन्हे अपराध से विरत किया जा सके ? क्योंकि वह इतना विशाल हृदय रखते है कि आवश्यकता पड़ने पर जो व्रत ठान लेते है हैं उसे सदैव पूरा करते हैं, इसी समस्या को प्रस्तुत कहानी मे लेखक ने उपस्थित किया है ।]

पहाड़ों के सिलसिले के नीचे कटे-फटे भरकोंवाला ढालू मैदान दक्षिण से उत्तर की ओर मीलों चला गया था। मैदान के नीचे एक बड़ी नदी थी और उसके किनारे से जरा हट कर चक्करदार पतला रास्ता मोड़ें लेता हुआ दो पहाड़ों के बीच से पूर्ववर्ती एकवर्ती एक गाँव को गया था। इस घाटी से गाँव कम से कम एक कोस था। पहाड़ी इलाके के गाँववालों का कोस! हो सकता है, चार-पाँच मील रहा हो।

उस घाटी की दिशा से घाटी पार करके एक साइकिलवाला जैसे ही नदी की ओर जाने के लिए मुँड़ा कि एक झाड़ी के पीछे से आवाज आयी—'खड़े रहो!'

साइकिलवाला अचकचा कर साइकिल से उतर पड़ा। उतरने में अचकचाहट के सिवाय एक बाधा और पड़ी—साइकिल के पीछे एक बोरे में ऊँचा बोझ बँधा था। उसमें पाँव अटका परन्तु वह सध गया।

झाड़ी के पीछे एक बन्दूकवाला आया। साइकिलवाला सकपका गया।

'क्या है तुम्हारे पास?' बन्दूकवाले ने बन्दूक पर हाथ फिसलाते हुए पूछा। गला उसका पहले से ही सूखा था, अब घिग्घी बँध गयी। बन्दूक-वाले ने फिर ललकारा।

'जी—जी—आटा—और आलू है। और कुछ नहीं।' बड़ी मुश्किल से उसके कण्ठ से फूटा।

'कहाँ जा रहे हो?'

'जी—ई,—नदी के उस पार। इस गाँव से आटा पिसवाकर ला रहा हूँ।'

जहाँ उसे जाना था वह स्थान आठ-दस मील से कम दूर नहीं था। दिन डूबने के लिए एक पहर से कम। रास्ता बीहड़ था। नदी का पाट चौड़ा और पथरीला। पानी की धारा गहरी नहीं थी, परन्तु पानी भरा था जगह-जगह। साइकिलवाला नदी से उस पार के गाँव साँझ के दो घण्टे पीछे ही पहुँच सकता था।

बोरा खोलकर हमारे हवाले करो।' बन्दूकवाले ने जैसे ही कहा, उसने बोरा खोलकर दे दिया। बोरे मे दस-बारह सेर आटा था और दो-तीन सेर आलू। बस! साइकिलवाला नंगाझोली देकर माथे का पसीना पोंछता हुआ चला गया। जब वह अदृश्य हो गया बन्दूकवाले ने ओठों से सीटी बजायी। झाड़ियों के पीछे से एक दर्जन हथियारबन्द आदमी निकल आये।

'इस सामान से आज और कल सबेरे का काम चल जायेगा'—उसने कहा—'कहीं घाटी के उस तरफ का कुआँ मिल जाय तो रोटी बना-खा कर फिर रात के काम में जुट जावें।'

साथियों मे से एक ने दिक्कत बतलायी—'सरदार, जब तक भेदिया नहीं आता तब तक तो यही रहना पड़ेगा। यहाँ से कहीं दूर चले गये और भेदिये को न मिले तब सब काम चौपट हो जायेगा। थोड़ी देर की भूख और सह लें। साँझ के पहिले ही आ जायेगा वह।'

वहीं ठहरे रहना तय हुआ।

[२]

बिना भेदिये के डाका नहीं पड़ता। नाम, पता-ठिकाना, कहाँ क्या हो रहा है, किस समय डाका डालना चाहिये; गाँव मे हथियार किस के पास कितने और कैसे हैं; गाँव में किसके पास कितना माल है, इत्यादि भेदिया बतलाता है, तब धावा बोला जाता है। पुलिस कहीं आस-पास तो नही है, यह भी भेदिये ही से मालूम हो सकेगा।

वे सब झाड़ियों के पीछे जा छिपे और ताक लगाये काफी देर बैठे रहे। सूर्यास्त मे थोड़ा-सा विलम्ब था। पहाड़ की दिशा से इन लोगों को किसी के आने की आहट मिली। सब चौकन्ने हो गये। पाव घड़ी पीछे बन्दूक लिये एक व्यक्ति सरदार के निकटवाली झाड़ी के पास आया। सरदार तुरन्त उसके सामने बन्दूक ताने जा खड़ा हुआ। वह व्यक्ति सन्न होकर ठिठक गया।

'कौन?'—सरदार का स्वर कठोर था।

उसने दबे स्वर में अपना नाम और गाँव बतलाया—"मैं शिकारी हूँ। शिकारी की टोह मे निकला था। मुझे किसी से कोई वास्ता नहीं। नौकर हूँ।" उसने अपने मालिक का नाम भी लिया।

सरदार की तनी बन्दूक नीची पड़ गयीं। मुँह से सीटी बजा कर सब साथियों को पास बुला लिया। उस शिकारी को लगा जैसे अनिगनत भेड़ियों से घिर गया हो।

'मेरी बन्दूक ले लीजिये। है तो टोपीदार लेकिन निशाना बहुत अच्छा देती है। मुझे छोड़ दीजिए' —शिकारी घिघियाया।

सरदार हँस पड़ा।

वह बोला—'इतना डर गये! तुम जिसके नौकर हो, उसका नाम सुना, पर देखा कभी नहीं। कहाँ हैं वह?'

'पहाड़ों के पीछे उस गाँव में। मै उसको समझ लूँगा। यह टोपीदार बन्दूक बहुत कीमती नहीं है!'

"हम बन्दूक-फन्दूक कुछ नहीं लेंगे। आजकल तुम्हारे मालिक क्या लिख रहे हैं?"

शिकारी की जान में थोड़ी जान आयी। बोला—'मालूम नहीं, पर वह तो कुछ न कुछ लिखते ही रहते हैं।'

'हूँ! उधर चलो हमारे साथ। झाड़ी के पीछे छिप कर बैठ जाओ। थोड़ी देर में घर चले जाना'—सरदार ने कहा।

शिकारी की समझ में नहीं आ रहा था। उसे सरदार के साथ एक झाड़ी के पीछे छिप जाना पड़ा।

[३]

सूरज डूबने को ही था कि सरदार को थोड़ी दूर से किसी के खाँसने का स्वर सुनाई पड़ा। सरदार ने उस इशारे को समझ लिया। जिस झाड़ी के पीछे वह छिपा था वहीं बाँस की तरह सीधा खड़ा हो गया। खाँसनेवाले व्यक्ति ने देख लिया। वह सरदार के पास गया।

यह भेदिया था।

भेदिये ने सरदार को झुक कर प्रणाम किया। उसने शिकारी को नहीं देखा, जो पास ही की झाड़ी के पीछे छिपा बैठा था।

'सब ठीक है। यहाँ पुलिस-उलिस कोई आस-पास नहीं। लोग लाइसेंस बदलवाने हथियार लेकर उधर गये हैं। केवल एक टोपीदार बन्दूक गाँव मे है, सो कोई बात नहीं। आप लोगों के पास कारतूसी बन्दूकें है। टोपीदार कुछ न कर सकेगी'—भेदिये ने कहा और जिसके ऊपर डाका डालना था उसका नाम बतलाया। वह इस शिकारी का मालिक था! शिकारी ने सुना, दातों तले पसीना आ गया।

सरदार ने दृढ़ता के साथ प्रतिवाद किया—

'उनके ऊपर डाका नहीं डालेंगे।'

'क्यों सरदार? उनके पास कुछ रुपया तो है ही।'

'उनकी एक कौड़ी न छुऊँगा। मैं उनका आदर करता हूँ।'

'उनका आदर! वह तो अथाई पर बैठ कर यह कहा करते है कि यदि डाकू आवें तो उनको गोली से उड़ा दूँ।'

'कहते है तो कहने दो। लिखते भी कुछ इस तरह की है और इससे भी बहुत बढिया बातें। उन पर हम लोग धावा नहीं बोलेंगे। कोई और है है? सेठ? साहूकार?'

'नहीं है—उस गाँव में तो नहीं है।'

'तो भाग जाओ। हम और कहीं की गैल टटोलेंगे।'

भेदिया चला गया।

सरदार ने शिकारी से कहा—'आसपास कोई कुआँ है?'

'हाँ जी।'

'ले चलो, खाना बनायेंगे, खायेंगे।'

सरदार के एक साथी ने याद दिलाया—'तो फिर आज धावा?'

'कोई और ठौर देखेंगे, वहाँ नहीं जहाँ वह कमबक्त ले जाना चाहता था।'—सरदार ने निश्चय के स्वर में कहा।

शिकारी उन सब को एक कुएँ के पास ले गया जो जंगल की एक खुली गह में था। रोटी बनाने की तैयारी होने लगी।

शिकारी ने विनती की—'मैं जाऊँ ?'

सरदार ने उत्तर दिया—'वैसे ही ? बिना खाना खिलाये नहीं जाने देंगे।'

'मुझे भूख नहीं है'—शिकारी ने बैठे स्वर में कहा।

सरदार हँस पड़ा—

'दिन भर तो तुम्हे जंगल में भटकते फिरते हो गया है, उस पर भूख नहीं ! डरो मत, पहले ही तुमसे कह दिया। जी मत छोड़ दो।'

[४]

रात का सन्नाटा, जंगल की साँय-साँय। कुएं से हट कर एक पेड़ के नीचे कोई रोटी बना रहा है, कोई आलू भून रहा है, कोई मोटे खुरदुरे पत्थर से खुरदुरी चट्टान पर नमक-मिर्च पीस रहा था।

जब रोटी तैयार हो गयी, उन सब ने खायी—शिकारी ने भी। सरदार ने देखा कि भूखा न होने पर भी शिकारी कितनी रोटियाँ निगल गया—उस मोटे नमक-मिर्च और अधभुने अधजले आलू के साथ; जब सब खा-पी चुके शिकारी चलने लगा। सरदार ने एक पुस्तक अपने झोले में से निकाली।

बोला—'तुम्हारे मालिक की लिखी यह कहानी मुझे बहुत पसंद है। तुमने पढ़ी ?'

सरदार ने पुस्तक का नाम बतलाया।

'जी हाँ, पढ़ी है।'—शिकारी ने उत्तर दिया, पर उसके स्वर में झूठ की फिसलन थी। सरदार ताड़ गया।

उसने चोट की—'जैसे भूखे न होने पर भी ढेरों रोटियाँ चटका गया वैसे ही यह किताब पढ़ी होगी !'

'माफ करना, मुँह से झूठ यों ही निकल गया सरदार साहब !'—शिकारी जानता था कि यदि सरदार ने पुस्तक के भीतर की कोई बात पूछ डाली तो किसी तरह भी बताते न बनेगी !

'तुझे अचम्भा होता है'—सरदार ने कहा—तुमने उनके इतने पास

रहते हुए भी यह पुस्तक नही पढी ! मैने एक सेठ पर डाका डाला था, उसमें यह हाथ लगी थी। खुद पढ़ी और अपने इन सब साथियों को सुनायी। तब से हम सब ने कालिका माई के मन्दिर मे सौगन्ध खायी है कि किसी भी स्त्री और बच्चे पर हाथ नहीं डालेंगे, चाहे वे कितने भी मालदार क्यों न हों।'

'मैं पढ़ूँगा सरदार साहब'—शिकारी बोला—हुकुम हो तो उन की कुछ किताबें लौटते पैर दे आऊँ ?'

सरदार ने तुरन्त इनकार किया—'न भाई। वह दाम लेंगे नहीं, हम मुफ्त लेंगे नहीं। वैसे भी यह एक ही हमारे लिए बहुत है। ज्यादा बोझ कौन लिये लिये फिरे।'

शिकारी राम-राम कर जाने लगा। वे सब दूसरी दिशा को चलने को हुए। सरदार ने जाते-जाते कहा—'उनसे कह देना कि जंगल मे कुछ ऐसे जानवर मिले थे, जिन्होंने तुम्हे रोटी खिलायी, बिना गोली खाये ही।'

शिकारी की बात की तसदीक के लिए लेखक सबेरे उस स्थान पर गया।

अलाव की आग घंटों पहले ठंढी हो चुकी थी। खुरदुरे लोढ़े और खुरदुरी चट्टान पर मिर्चों के अधपिसे टुकड़े चिपके हुए थे और चट्टान के नीचे नमक के कुछ छोटे-बड़े टुकड़े बिखरे पड़े थे। अलाव की राख मे आलुओं के जले छिलके। हिलते हुए पेड़ की लड़खड़ाती हुई पत्तियों से सर्य की किरणें सारे दृश्य को स्पष्ट कर रही थी।

लेखक को लगा जैसे वे किरणें अलाव की राख से पूछ रही हों—'क्या इन गिरे हुओं को उठाया नहीं जा सकता ?'

कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब' बनारसी

[बेढब जी का जन्म काशी के एक सम्भ्रान्त परिवार मे सन् १८९५ मे हुआ । वे भारत विश्रुत शिक्षाशास्त्री हैं तथा विविध शैली मे अक्षय हास्य-साहित्य के स्रष्टा भी । यद्यपि उन्होंने १९१७ से लिखना आरम्भ किया तो भी कहानी के क्षेत्र मे उनका आगमन सन् १९३१ मे 'बनारसी इक्का' शीर्षक कहानी से हुआ । तब से आज तक उन्होंने सैकड़ों कहानियाँ लिखीं । वे आधुनिक हास्य की कविताओ के प्रवर्त्तकों मे से एक है। उनकी 'पिगसन की डायरी' हिन्दी मे हास्य-रस का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है । उनके स्केच भी अत्यन्त मूल्यवान हैं । उनकी उपमायें बेजोड़ हैं । उन्होंने ऐतिहासिक महत्व के गम्भीर आलोचनात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। उनके कहानी-संग्रहों के नाम हैं—बनारसी इक्का, मसूरीवाली, टनाटन, धन्यवाद और उपहार । उन्होंने सफल प्रहसन का भी प्रणयन किया । उनकी भाषा सहज तथा प्रसादमयी है । वे हिन्दी के वर्तमान गद्य-कारों में सटीक और मौलिक उपमाओं के बेजोड़ स्रष्टा हैं ।]
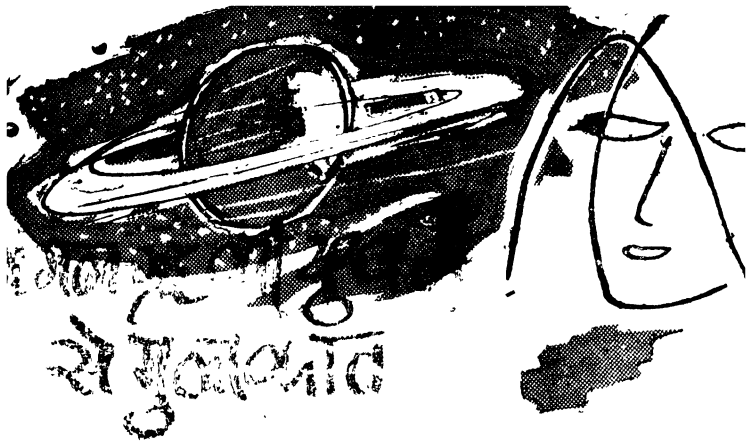
[आजकल वैज्ञानिक कथा-साहित्य का हिन्दी मे जोर है। इस का प्रारम्भ डाक्टर सम्पूर्णानन्द ने 'सप्तर्षि-मंडल' लिख कर किया। तब से बराबर इधर-उधर वैज्ञानिक कहानियाँ पढ़ने का अवसर पाठकों को मिलता रहा है। हास्य के क्षेत्र मे 'बेढब बनारसी' पहले व्यक्ति ठहरते है, जिन्होंने इस ओर ध्यान दिया। यह हास्य के क्षेत्र मे हिन्दी की पहली वैज्ञानिक कहानी है। विज्ञान-कथाकार जहाँ मंगल-ग्रह पर जाने की बात करते हैं, वहीं 'बेढब बनारसी' मंगल ग्रह की युवती को धरती पर उतार लाते है। इस धरती के लेखक को केवल एक साहित्यक पुस्तक मंगल-ग्रह पर भेजने के लिए मिली और वह है 'रामचरित मानस'। उन्होंने युग मे व्याप्त स्वर्ण-लिप्सा की तृप्ति का उपाय मंगल ग्रह की युवती से प्राप्त एक बोतल को बताया है, जिसका रस समाप्त होने वाला है। इस प्रकार लेखक ने हास्य के माध्यम से युग पर व्यंग कर स्वस्थ हास्य कहानी की सृष्टि की है जो इसे स्थायी साहित्य की कोटि मे प्रतिष्ठित करती है। सरल-सहज शैली मे सटीक उपमाओं के माध्यम से जीवन्त वातावरण उपस्थित करनेवाले साहित्यकार 'बेढबजी की भाषा और शैली भी अपने स्थान पर बेजोड़ है।]

कालेज का नया भवन बन रहा था और वस्तुओं के साथ लकड़ी की काफी आवश्यकता थी। गोरखपुर के एक ठेकेदार से लिखा-पढ़ी हुई थी और एक वैगन साखू वहाँ से मँगवाना निश्चय हुआ था। सभ्यता की नयी दौड़ में व्यापार में ईमानदारी का वहीं मानदण्ड है जो सिगरेट दिया-सलाई का। मुझे आज्ञा हुई कि तुम जाओ, अपने सामने लकड़ियाँ लदवा दो। यहाँ लोगों को सन्देह था कि कहीं दागी, कच्ची, घुनी लकड़ियाँ न लद जायँ।

गोरखपुर से कुछ पहले कुसुमी स्टेशन पड़ता है। वहीं बरगदराम पंजाबी का लकड़ी का बड़ा कारोबार होता था। वहीं लकड़ी लदवानी थी। मैंने पत्र लिख दिया था। छः बजे सबेरे गाड़ी से उतरा। वहाँ पंजाबी का नौकर आया था। उसी के साथ मैं वहाँ चला गया जहाँ से लकड़ी आनेवाली थी। कुसुमी स्टेशन से लगभग डेढ़ मील उत्तर बरगदराम की छावनी थी। छावनी के आस-पास तीस-चालीस मकान थे, जिनमें अधिक इनके यहाँ काम करनेवालों के थे। दो-तीन दूकानें थीं और चारों ओर जंगल था। दाँतों के बीच जीभ के समान यह छोटी बस्ती थी। यों दिन गरमी के थे, किन्तु यहाँ सात बजे सबेरे भी ऐसा जान पड़ा मानों फागुन की हलकी सरदी हवा में भीनी हो, जैसे ओवलटीन मे अण्डा भीना रहता है—है भी नहीं भी है। जलपान के लिए बरगदराम के नौकर ने एक गिलास लस्सी दही की सामने रखी। गिलास की ऊँचाई एक फुट से एकाध ही इंच कम रही होगी। मेरे लिए उतनी लस्सी पी जाना उतना ही कठिन था, जितना दीमक के लिए लोहे मे छेद करना। जैसे कपड़े के बकस में अधिक से अधिक ठूँस कर कपड़ा रखना कला समझी जाती है, उसी प्रकार मेहमान के पेट में अधिक से अधिक भोजन ठूँसना अतिथि-सत्कार है। किसी प्रकार चौथाई पी कर जान छुड़ाई। पता चला कि अभी तीन दिन और लगेंगे। शहतीरें चीरी जा रही हैं। शहतीरें आदमी चीर रहे थे, इसलिए

काम धीरे-धीरे होता है। यदि सभ्य होने में भी उसे विलम्ब हो तो घबड़ाना नही चाहिए।

सोमवार को मै पहुँचा था। मंगल का दिन था मुझे अच्छी तरह याद है। दो-तीन बजे के लगभग मैं टहलने निकल गया। बूढ़ों और बेकारों के लिए टहलना ही सबसे महत्त्व का कार्य है अकेले हो तो और भी अच्छा होता है। कुछ व्यय नहीं होता। किसी से बात नहीं करनी पडती। इसलिये अपनी मूर्खता प्रकट होने की कोई सम्भावना नहीं होती। किधर और कितना मै चला, कह नहीं सकता। इतना अवश्य था कि मैं जंगल मे कुछ दूर तक चला गया था। एकाएक सामने छोटा मैदान दिखाई पडा और उसके बीच उज्जवल चमकती छोटी झील दिखाई पड़ी। सूर्य की किरणों मे ऐसा जान पड़ा कि पानी नहीं पारे की झील है अथवा चाँदी का विशाल थाल रखा है। चारों ओर हरे-भरे वृक्षों का वन और उसके मध्य ऐसी चमकती झील मानों कृष्ण के वक्ष पर कौस्तुभ पड़ा हो। यह सोचा भी नहीं कि उधर चलना है, यों ही उसी ओर चल पड़ा।

सौ गज दूर मै रहा हूँगा कि देख पड़ा, वह झील नही हैं किसी चमकती धातु का बड़ा गोल डब्बा है। डब्बा कम से कम सौ फुट लम्बा-चौड़ा रहा होगा। बुद्धि समझ न पायी कि यह क्या है! आँखों ने समझा धोखा है। मरुभूमि मे इस प्रकार भ्रम हो जाता है। मन में कुछ भय का बीजारोपण हुआ। बुद्धि ने कल्पना की सीढ़ी पर चढना आरम्भ किया। कल्पना असीम है, ऐसा लोग कहते है। किन्तु जो वस्तु सामने थी उसके सम्बन्ध मे कल्पना भी लँगड़ी हो गयी, आगे न बढ़ सकी।

मै सोच ही रहा था कि क्या बात है कि एकाएक उसमे चमक बढ गयी और मेरी आँखों में चकाचौध आ गयी। मेरे सर में चक्कर आ गया और मैं गिर पड़ा।

कितनी देर बाद मेरी आँख खुली, मै नही कह सकता। मेरी आँख जब खुली, मैने अपने को लेटा हुआ पाया। मैने उठने की चेष्टा कि किन्तु उठ न सका; मै बँधा न था। हाथ-पाँव खुले थे। शरीर पर भी कोई

बोझ न था। किन्तु उठ न सकता था। देख सकता था, सुन सकता था। जिस वस्तु पर मैं लेटा था वह दलदल के समान कोमल थी। सहसा कुछ ऐसी सुगन्धि आयी जिसमे अंगूर, खस और मोतिया की सुगन्ध मिली हुई थी। वह अति मादक थी। इन विविध विचित्रताओं का मैं विश्लेषण कर नही पाया था कि सामने एक युवती आ खड़ी हुई। उसके बाल महीन सोने के तार के समान थे। उनकी लहरें और छल्ले देख कर जान पडता था कि वे कोमल भी बहुत हैं। चेहरा बहुत सुडौल—खिलौने की भाँति, रंग कन्धारी अनार के दाने के रंग के समान था। विशेषता यह थी कि चेहरे पर चार आँखें थी। दो जैसे हम सब लोगों को होती है, दो कन-पटियों पर। आँखों का रंग हरा-नीला था। उसमे सरलता थी, कोमलता थी, आकर्षण था। उसका चेहरा देखकर भय का आभास नहीं होता था। मै आश्चर्य, उत्सुकता और भय की लहरिकाओं पर ऊपर-नीचे हो रहा था कि उसने हाथ जोड़ कर कहा—'नमस्ते !' मैंने देखा कि प्रत्येक हाथ मे छः अँगुलियाँ हैं। कलाइयाँ गोल हैं। दाहिने हाथ की कलाई मे चौडी चूड़ी के समान कोई आभूषण है, जिसमें से आग की लौ निकलती जान पड़ती थी। बायीं कलाई मे चमकते हुए हाथी-दाँत की चूड़ी के समान कोई आभूषण था जिसमें छोटे-छोटे रत्न जड़े थे। शरीर का ऊपरी भाग बन्द गले के कोट के समान कपडे से ढँका था किन्तु वह आधी बाँह का था। कपड़े का रंग हलका फिरोजी था और मखमल-सा जान पड़ता था। नीचे के भाग मे पेटीकोट-सा वस्त्र था। इस पर फूल बने थे। वैसे फूल इधर देखने मे नहीं आते। कपड़े मे चमक अधिक थी, मानों किसी तार का बना हो। नीचे पाँव घोड़े के टाप के समान थे। उसका स्वर बहुत महीन था, जैसे बुलबुल का होता है। उसका 'नमस्ते' शब्द तो शुद्ध था, किन्तु उच्चारण से पता चलता था कि कोई ऐसा व्यक्ति बोल रहा है जिसकी वह भाषा नहीं है।

मैं उठ कर कुछ कहना चाहता था कि उठ न सका। मैंने लेटे-लेटे नमस्ते का उत्तर दिया। मेरा प्रयत्न देख कर उसने कहा—'आप उठने की चेष्टा न करें। आप उठ नहीं सकते। प्रयत्न विफल होगा। मैं जो पूछती

हूँ, उसका उत्तर देने की कृपा करेंगे।' मैने कहा—'मैं कुछ नहीं समझ रहा कि मैं कहाँ हूँ। मैं यह नहीं जानता कि आप कौन है, और क्षमा कीजियेगा, मैं कुछ विचित्रता का भी अनुभव कर रहा हूँ।' उसने मुस्करा दिया। उसके अधर खुलने पर उसके दाँत दिखाई दिये! वे सब बराबर, लम्बे, नुकीले आबदार मोती के दाने जान पड़ते थे। उसने कहा—'हाँ ठीक है। मैं अपना परिचय देती हूँ। मैं और मेरे साथी वहीं से आये हैं जिसे आप मंगल-ग्रह कहते हैं। हमारी भाषा में उसे स्वरवेन कहते हैं। जिसका अर्थ आपकी भाषा मे स्वर्ग है। हमारे यहाँ ऐसे यन्त्र हैं जिनमें दूसरे संसारों की गतिविधि हम जानते रहते है। जिस समय यहाँ पहले-पहल एटम बम का विस्फोट हुआ हमारे यहाँ के यन्त्रों मे विचित्र कंपन हुआ। हम लोगों ने खोज आरम्भ की। पता लगा कि धरती पर कुछ गड़बड़ है। इसके पहले हम लोग समझते थे कि यह कोई ग्रेन है जहाँ छोटे-छोटे कीड़े अथवा जन्तु रहते हैं। इधर जब हम लोगों ने परीक्षा की तब जान पडा कि थोडी सभ्यता यहाँ भी है और विज्ञान की भी कुछ जानकारी है।' मैंने कहा—'यदि यह सत्य है कि आप मंगल-ग्रह से पधार रही है तो आपके आने का उद्देश्य क्या है और मुझे क्यों पकड़ रखा है?' वह बोली—'बात यह है कि जब हम लोगों ने निश्चय किया कि पृथ्वी पर जाना है तब पहले हम लोगों ने यहाँ की भाषा सीखी। प्रत्येक देश से हमलोग कुछ लोगों को उठा ले गये। आप ने अपने यहाँ के पत्रों में पढ़ा होगा कि अमुक व्यक्ति लोप हो गया। उसका पता नही। हमी लोग उसे उठा ले गये। कई बार ले जाना बेकार हो गया। वह हमें सिखा न सके। इस समय हमारे यहाँ रूसी, फ्रेंच, अंग्रेजी तथा हिन्दी की शिक्षा दी जाती है—अपनी भाषा के अतिरिक्त। एक घण्टे मे हम यंत्रों की सहायता से कोई एक भाषा सिखा सकते है। हमारे यहाँ जो सज्जन हिन्दी सिखा रहे है उनका यहाँ का नाम मोलईराम है। हम लोग उन्हें गुरगाट कहते है। उन्होंने हमें हिन्दी सिखायी है। वे हमारे विश्वविद्यालय के हिन्दी के अध्यक्ष है। उन्होंने बताया कि आप हिन्दी के बहुत बड़े साहित्यकार है।'

उसने कहा—'मैंने जो आपको बुलाया वह इसलिए कि हमारे यहाँ हिन्दी की पुस्तकें नहीं हैं। तुरगाट जो मौखिक पढ़ा देते हैं उसी का ज्ञान है। हम लोग यहाँ किसी कार्यवश उतरे तो मैंने समझा कि आप पुस्तकें ला देगें।'

मैंने उत्तर दिया—'आप जो कह रही हैं वह विचित्र जान पडता है। यह वाक्य समाप्त भी नहीं हुआ था कि वह मेरे निकट आ गयी। उसके मुख से कोई डेढ फुट की जीभ निकल आयी। उसका सिरा दो भागों में था—चिमटे की भाँति ही उससे उसने मेरी नाक पकड़ ली। ऐसा जान पड़ा किसी ने नाक पर जलता अंगारा रख दिया हो। मै चिल्लाने लगा। उसने जोभ हटा ली और कहा—'कभी स्वरवेन की बातों पर अविश्वास न करना।' मैंने क्षमा माँगी और कहा—'मुझे जाने की आज्ञा दीजिये।' वह बोली—'पुस्तकें ला दो। हम मूल्य देंगे।' मैंने उत्तर दिया—'यह जंगल है। यहाँ बहुत कम लोग रहते है। यहाँ पुस्तकें कहाँ मिल सकती है।' उसने कहा—'आप अपनी पुस्तकें लाइये। हम तुरन्त लौटा देंगे। मैंने कहा—'यह मेरा घर नहीं। पाठ करने के लिए रामचरितमानस है वह ला सकता हूँ।'

दूसरे दिन सबेरे मै रामचरितमानस लेकर पहुँचा। उसकी आज्ञानुसार किसी से घटना की बात नहीं बतायी। उसने मुझसे रामचरितमानस लिया और अन्दर चली गयी। पाँच मिनट में लौट आयी। बोली—'इसकी प्रतिलिपि हो गयी।' मैंने पूछा—'इतनी बड़ी पुस्तक की इतनी जल्दी प्रतिलिपि!' उसने कहा—'हम लोग प्रतिलिपि की मशीन साथ रखे हुए है, जिनके द्वारा कितनी भी बड़ी पुस्तक हो एक मिनट में उसकी प्रतिलिपि हो जाती है। और फिर उससे प्रत्येक मिनट मे एक प्रतिलिपि बना ली जाती है। आप भी एक प्रति लेते जाइए।' एक प्रति उसने दी। उसके पृष्ठ सोने के वरक के समान थे। वैसा ही रंग, पतला भी, चमकदार भी। किन्तु मोड़ने पर टूटते न थे। उसमें से चन्दन के समान सुगन्ध भी निकल रही थी। अक्षर वैसे ही और उतने ही बड़े जितने पुस्तक मे थे। पुस्तक देने के बाद उसने एक शीशी दी, जिसमे हरा-हरा तरल पदार्थ था। उसने

बताया इसकी एक बूँद किसी वस्तु पर डाल दोगे तो वह सोना बन जायगा। इसके बाद उसने मुझसे कहा—'इस समय अब अधिक हम ठहर नहीं सकते। आप चाहे तो हमारे साथ चल सकते हैं।' एक बार तो इच्छा हुई कि चला चलूँ, किन्तु उसकी जीभ की याद आते ही साहस टूट गया। मैंने क्षमा माँगी। उसने मुझे बाहर कर दिया और क्षण भर में वह डब्बा सौ मील ऊपर उठ कर लोप हो गया।

उस हरे पदार्थ से मैंने बहुत सोना बनाया। दवा समाप्त हो गयी। शीशी मेरे पास है लोग देख सकते हैं। रामचरितमानस कलाभवन मे रखने के लिए दे दिया है।

भगवती प्रसाद वाजपेयी

आपका जन्म कानपुर में एक ब्राह्मण-कुल में हुआ। स्कूली शिक्षा आपको मिडिल स्कूल तक ही मिली। तदुपरान्त अपने ग्राम के अपर प्राइमरी स्कूल में आप अध्यापक हो गए। इसके बाद आप 'होमरूल-लीग पुस्तकालय' के पुस्तकाध्यक्ष हुए। यहीं से आपको लिखने की प्रेरणा मिली। आपकी प्रारम्भिक रचनाएँ 'माधुरी' में छपीं। आपकी कहानियों में सरल भाषा में अर्न्तद्वन्द्वों का सफल उद्घाटन हुआ है।

आपने दस उपन्यास, एक नाटक, लगभग ३०० कहानियाँ और १५ अन्य विषयों पर छोटी-बड़ी पस्तकें लिखी हैं। कविता-संग्रह भी एक प्रकाशित हुआ है। निश्चय ही आप हिन्दी के एक श्रेष्ठ कहानीकार हैं।

[जीवन मे कुछ ऐसे मार्मिक अभाव व्यक्ति के सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं जिनके स्नेह के कारण व्यक्ति अपना बहुत बड़ा सुख तज देता है। और वह ऐसा जीवन व्यतीत करता है जो भौतिक दृष्टि से उसके लिए कष्टप्रद समझा जाता है। फिर भी यह कष्टप्रद जीवन उसे अत्यन्त प्रसन्नता प्रदान करनेवाला लगता है। इसी मर्म का उद्‌घाटन प्रस्तुत कहानी का प्रतिपाद्य है। ऐसी कहानो लिखने मे, जिसमें मानसिक मर्म का उद्‌घाटन होती है, पण्डित भगवतीप्रसाद वाजपेयी अपनी उपमा नहीं रखते। इस दृष्टि मे यह हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों में से एक है। वाजपेयीं जी द्वारा चुस्त-दुरुस्त भाषा में वातावरण-प्रधान् शैली में लिखी गयी यह कहानी उनके गौरव को अक्षुण्ण रखने में पूर्ण समर्थ है।]

बहुत ही मीठे स्वरों के साथ वह गलियों में घूमता हुआ कहता—
'बच्चों को बहलानेवाला, खिलौने वाला !'

इस अधूरे वाक्य को वह ऐसे विचित्र, किन्तु मादक-मधुर ढंग से गा कर कहता कि सुननेवाले एक बार अस्थिर हो उठते। उसके सुभाषित कंठ से फूटा हुआ उपर्युक्त गान सुनकर निकट के मकानों में हलचल मच जाती। छोटे-छोटे बच्चों को अपनी गोद में लिए हुए युवतियाँ चिकों को उठा कर छज्जों पर से नीचे झाँकने लगतीं। गलियों और अंतर्व्यापी छोटे-छोटे उद्यानों में खेलते और इठलाते हुए बच्चों का झुंड उसे घेर लेता, और तब वह खिलौनेवाला वहीं कहीं बैठ कर खिलौनों की पेटी खोल देता।

बच्चे खिलौने देख कर पुलकित हो उठते। वे पैसे लाकर खिलौनों का मोल-भाव करने लगते। पूछते—'इछका दाम क्या है, औल इछका, औल इछका ?' खिलौनेवाला बच्चों को देखता, उनकी नन्हीं-नहीं उँगलियों और हथेलियां से पैसे ले लेता, और बच्चों के इच्छानुसार उन्हे खिलौने दे देता। खिलौने ले कर फिर बच्चे उछलने-कूदने लगते और तब फिर खिलौने वाला उसी प्रकार गा कर कहता—'बच्चों का बहलानेवाला, खिलौनेवाला !' सागर की हिलोर की भाँति उसका मादक गान गली भर के मकानों में इस ओर से उस ओर तक, लहराता हुआ पहुँचता, और खिलौनेवाला आगे बढ़ जाता।

राय विजयबहादुर के बच्चे भी एक दिन खिलौने ले कर घर आये। वे दो बच्चे थे—चुन्नू। मुन्नू चुन्नू जब खिलौना ले आया, तो बोला—'मेला घोला कैछा छुंदल ऐ !'

मुन्नू बोला—'औल देखो, मेला आती कैछा छुंदल ऐ !'

दोनों अपने हाथी घोड़े ले कर घर भर में उछलने लगे। इन बच्चों की माँ, रोहिणी कुछ देर तक खड़े-खड़े उनका खेल निरखती रही। अन्त में

दोनों बच्चों को बुला कर उसने उनसे पूछा—'अरे ओ कुन्नू-मुन्नू ये खिलौने तुमने कितने में लिए है ?'

मुन्नू बोला—'दो पैसे में। खिलौनेवाला दे गया ऐ।'

रोहिणी सोचने लगी—इतने सस्ते कैसे दे गया है ? कैसे दे गया है, यह तो वह जाने। लेकिन दे तो गया ही है, इतना तो निश्चय है।

एक जरा-सी बात ठहरी। रोहिणी अपने काम में लग गई। फिर कभी उसे इसपर विचार करने की आवश्यकता ही भला क्यों पड़ती।

[२]

छः महीने बाद !

नगर-भर में दो-ही चार दिनों मे एक मुरलीवाले के आने का समाचार फैल गया। लोग कहने लगे—'भई वाह ! मुरली बजाने में वह एक ही उस्ताद है। मुरली बजा कर, गाना सुनाकर वह मुरली बेचता भी है, सो भी दो-दो पैसे ! भला, इसमें उसे क्या मिलता होगा ? मेहनत भो तो न आती होगी।

एक व्यक्ति ने पूछ दिया—'कैसा है वह मुरलीवाला, मैंने तो उसे नहीं देखा ?'

उत्तर मिला—'उमर तो उसकी अभी अधिक न होगी, यही तीस-बत्तीस का होगा। दुबला-पतला गोरा युवक है, बीकानेरी रंगीन साफा बाँधता है।'

'वही तो नहीं; जो पहले खिलौने बेचा करता था ?'

'क्या वह पहले खिलौने भी बेचता था ?'

'हाँ, जो आकार-प्रकार बतलाया, उसी प्रकार का वह भी था।'

प्रतिदिन उसी प्रकार उस मुरलीवाले की चर्चा होती। प्रतिदिन नगर की प्रत्येक गली में उसका मादक, मृदुल स्वर सुनाई पड़ता, 'बच्चों को बहलानेवाला, मुरलियावाला !'

रोहिणी ने भी मुरलीवाले का यह स्वर सुना। तुरन्त ही उसे खिलौने

वाले का स्मरण हो आया। उसने मन-ही-मन कहा—खिलौनेवाला भी इसी तरह गा-गा कर खिलौने बेचा करता था।

रोहिणी उठ कर अपने पति विजय बाबू के पास गई, बोली—'जरा उस मुरलीवाले को बुलाओ तो, चुन्नू-मुन्नू के लिए ले लूँ। क्या जाने यह फिर इधर आये, न आये। वे भी जान पड़ता है, पार्क में खेलने निकल गये।'

विजय बाबू एक समाचार पढ रहे थे। उसी तरह उसे लिये हुए वे दरवाजे पर आकर मुरलीवाले से बोले—'क्यों भाई, किस तरह देते हो मुरली ?'

किसी की टोपी गली मे गिर पड़ी। किसी का जूता पार्क मे ही छूट गया, और किसी की सोथनी (पायजामा) ही ढीली हो कर लटक आयी। इसी तरह दौड़ते-हाँफते हुए बच्चों का झुण्ड आ पहुँचा। एक स्वर से सब बोल उठे—'अम बी लेंदे मुल्ली, और हम बी लेंदे मुल्ली !'

मुरलीवाला हर्ष-गद्गद् हो उठा। बोला—'सब को देंगे भैया। लेकिन जरा रुको, एक-एक को लेने दो। अभी इतनी जल्दी हम कहीं लौट थोड़े ही जायँगे। बेचने तो आये ही है, और है भी इस समय मेरे पास एक दो नहीं, पूरी सत्तावन !....हाँ बाबूजी, क्या पूछा था आपने कितने मे दी ?....दी तो वैसे तीन-तीन पैसे के हिसाब से है, पर आप को दो-दो पैसे में ही दे दूँगा।'

विजय बाबू भीतर-बाहर दोनों रूपों मे मुस्करा दिये। मन-ही-मन कहने लगे—कैसा ठग है ! देता सबको इसी भाव से है, पर मुझ पर उलटा एहसान लाद रहा है। फिर बोले—'तुम लोगों की झूठ बोलने की आदत ही होती है। देते होगे सभी को दो-दो पैसे मे, पर एहसान का बोझा मेरे ही ऊपर लाद रहे हो।'

मुरलीवाला एक दम अप्रतिभ हो उठा। बोला आपको क्या पता बाबूजी कि इनकी असली लागत क्या है ! यह तो ग्राहकों का दस्तूर होता है कि दूकानदार चाहे हानि उठा कर चीज क्यों न बेचे, पर ग्राहक यही समझते है—दूकानदार मुझे लूट रहा है।....आप भला काहे को विश्वास करेंगे।

लेकिन सच पूछिये, तो बाबूजी, इनका दाम दो ही पैसा है। आप कहीं से भी दो-दो पैसा मे ये मुरलियाँ नहीं पा सकते। मैंने तो पूरी एक हजार बनवाई थीं, तब मुझे इस भाव मे पड़ी हैं।'

विजय बाबू बोले—'अच्छा-अच्छा, मुझे ज्यादा-वक्त नहीं, जल्दी से दो ठो निकाल दो।'

दो मुरलियाँ लेकर बिजय बाबू फिर मकान के भीतर पहुँच गये।

मुरलीवाला देर तक उन बच्चों के झुण्ड में मुरलियाँ बेचता रहा। उसके पास कई रंग की मुरलियाँ थीं। बच्चे जो रंग पसन्द करते, मुरलीवाला उसी रंग की मुरली निकाल देता।

'यह बड़ी अच्छी मुरली है, तुम इसे ले लो बाबू, राजा बाबू तुम्हारे लायक तो बस यह है!....हाँ भैये, तुमको यही देंगे। ये लो....तुमको वैसी न चाहिए ऐसी चाहिये, यह नारंगी रंग की, अच्छा यही लो....पैसे नहीं हैं? अच्छा, अम्मा से पैसे ले आओ। मै भी बैठा हूँ। तुम ले आये पैसे?...अच्छा ये लो, तुम्हारे लिये मैंने पहले से ही निकाल रखी थी।....तुमको पैसे नहीं मिले! तुमने अम्मा से ठीक तरह से माँगे न होंगे। धोती पकड़ कर, पैरों में लिपट कर अम्मा से पैसे माँगे जाते हैं बाबू! हाँ, फिर जाओ। अबकी बार मिल जायँगे।...दुअन्नी है? तो क्या हुआ, ये छः पैसे वापस लो। ठीक हो गया न हिसाब?....मिल गये पैसे! देखो मैंने कैसी तरकीब बतलाई? अच्छा, अब तो किसी को नहीं लेना है? सब ले चुके? तुम्हारी माँ के पास नहीं हैं? अच्छा, तुम भी यह लो। अच्छा, तो अब मैं चलता हूँ।'

इस तरह मुरलीवाला फिर आगे बढ़ गया।

[३]

आज अपने मकान में बैठी हुई रोहिणी मुरलीवाले की सारी बातें सुनती रही। आज भी उसने अनुभव किया, बच्चों के साथ इतने प्यार से बातें करनेवाला फेरीवाला कभी पहले नहीं आया। फिर वह सौदा भी

कैसा सस्ता बेचता है ! भला आदमी जान पड़ता है। समय की बात है, जो बेचारा इस तरह मारा-मारा फिरता है। पेट जो न कराये, सो थोड़ा।

इसी समय मुरलीवाले का क्षीण स्वर दूसरी निकट की गली से सुनाई पड़ा—'बच्चों को बहलानेवाला, मुरलियावाला !'

रोहिणी इसे सुन कर मन-ही-मन कहने लगी—और स्वर कैसा मीठा है इस का !

बहुत दिनों तक रोहिणी को मुरलीवाले का यह मीठा स्वर और उस की बच्चों के प्रति वे स्नेह-सिक्त बातें याद आती रहीं। महीने-के-महीने आये और चले गये पर मुरलीवाला न आया। धीरे-धीरे उसकी स्मृति भी क्षीण हो गई।

[४]

आठ मास बाद.......

सरदी के दिन थे। रोहिणी स्नान करके अपने मकान की छत पर जाकर आजानुविलंबित केश-राशि सुखा रही थी। इसी समय नीचे की गली में सुनाई पड़ा—'बच्चों को बहलानेवाला, मिठाईवाला !'

मिठाईवाले का स्वर उसके लिए परिचित था। झट से रोहिणी नीचे उतर आई। उस समय उसके पति मकान में नहीं थे। हाँ; उन की वृद्धा दादी थीं। रोहिणी उनके निकट आ कर बोली—'दादी, चुन्नू-मुन्नू के लिए मिठाई लेनी है। जरा कमरे में चल कर ठहराओ तो। मैं उधर कैसे जाऊँ, कोई आता न हो। जरा हट कर मैं भी चिक की ओट में बैठी रहूँगी।

दादी उठ कर कमरे में आ कर बोलीं—'ए मिठाईवाले इधर आना !'

मिठाईवाला निकट आ गया। बोला—'कितनी मिठाई दूँ माँ ? ये नये तरह की मिठाइयाँ हैं—रंग-बिरंगी कुछ-कुछ खट्टी, कुछ-कुछ मीठी

लेकिन सच पूछिये, तो बाबूजी, इनका दाम दो ही पैसा है। आप कहीं से भी दो-दो पैसा मे ये मुरलियाँ नहीं पा सकते। मैंने तो पूरी एक हजार बनवाई थीं, तब मुझे इस भाव मे पड़ी हैं।'

विजय बाबू बोले—'अच्छा-अच्छा, मुझे ज्यादा-वक्त नहीं, जल्दी से दो टो निकाल दो।'

दो मुरलियाँ लेकर बिजय बाबू फिर मकान के भीतर पहुँच गये।

मुरलीवाला देर तक उन बच्चों के झुण्ड मे मुरलियाँ बेचता रहा। उसके पास कई रंग की मुरलियाँ थीं। बच्चे जो रंग पसन्द करते, मुरलीवाला उसी रंग की मुरली निकाल देता।

'यह बड़ी अच्छी मुरली है, तुम इसे ले लो बाबू, राजा बाबू तुम्हारे लायक तो बस यह है!....हाँ भैये, तुमको यही देंगे। ये लो....तुमको वैसी न चाहिए ऐसी चाहिये, यह नारंगी रंग की, अच्छा यही लो....पैसे नहीं है? अच्छा, अम्मा से पैसे ले आओ। मै भी बैठा हूँ। तुम ले आये पैसे?...अच्छा ये लो, तुम्हारे लिये मैंने पहले से ही निकाल रखी थी।....तुमको पैसे नहीं मिले! तुमने अम्मा से ठीक तरह से माँगे न होंगे। धोती पकड़ कर, पैरों में लिपट कर अम्मा से पैसे माँगे जाते हैं बाबू! हाँ, फिर जाओ। अबकी बार मिल जायँगे।...दुअन्नी है? तो क्या हुआ, ये छः पैसे वापस लो। ठीक हो गया न हिसाब?....मिल गये पैसे! देखो मैंने कैसी तरकीब बतलाई? अच्छा, अब तो किसी को नहीं लेना है? सब ले चुके? तुम्हारी माँ के पास नही है? अच्छा, तुम भी यह लो। अच्छा, तो अब मैं चलता हूँ।'

इस तरह मुरलीवाला फिर आगे बढ़ गया।

[३]

आज अपने मकान में बैठी हुई रोहिणी मुरलीवाले की सारी बातें सुनती रही। आज भी उसने अनुभव किया, बच्चों के साथ इतने प्यार से बातें करनेवाला फेरीवाला कभी पहले नहीं आया। फिर वह सौदा भी

कैसा सस्ता वैचता है ! भला आदमी जान पड़ता है। समय की बात है, जो बेचारा इस तरह मारा-मारा फिरता है। पेट जो न कराये, सो थोड़ा।

इसी समय मुरलीवाले का क्षीण स्वर दूसरी निकट की गली से सुनाई पड़ा—'बच्चों को बहलानेवाला, मुरलियावाला !'

रोहिणी इसे सुन कर मन-ही-मन कहने लगी—और स्वर कैसा मीठा है इस का !

बहुत दिनों तक रोहिणी को मुरलीवाले का यह मीठा स्वर और उस की बच्चों के प्रति वे स्नेह-सिक्त बातें याद आती रहीं। महीने-के-महीने आये और चले गये पर मुरलीवाला न आया। धीरे-धीरे उसकी स्मृति भी क्षीण हो गई।

[४]

आठ मास बाद.......

सरदी के दिन थे। रोहिणी स्नान करके अपने मकान की छत पर जाकर आजानुविलंबित केश-राशि सुखा रही थी। इसी समय नीचे की गली मे सुनाई पड़ा—'बच्चों को बहलानेवाला, मिठाईवाला !'

मिठाईवाले का स्वर उसके लिए परिचित था। झट से रोहिणी नीचे उतर आई। उस समय उसके पति मकान मे नही थे। हाँ; उन की वृद्धा दादी थी। रोहिणी उनके निकट आ कर बोली—'दादी, चुन्नू-मुन्नू के लिए मिठाई लेनी है। जरा कमरे में चल कर ठहराओ तो। मैं उधर कैसे जाऊँ, कोई आता न हो। जरा हट कर मैं भी चिक की ओट में बैठी रहूँगी।

दादी उठ कर कमरे में आ कर बोली—'ए मिठाईवाले इधर आना !'

मिठाईवाला निकट आ गया। बोला—'कितनी मिठाई दूँ माँ ? ये नये तरह की मिठाइयाँ हैं—रंग-बिरंगी कुछ-कुछ खट्टी, कुछ-कुछ मीठी

जायकेदार, बड़ी देर तक मुँह में टिकती है। जल्दी नही घुलतीं। बच्चे इन्हें बड़े चाव से चूसते है। इन गुणों के सिवा ये खाँसी भी दूर करती है। कितनी दूँ? चपटी, गोल और पहलदार गोलियाँ है। पैसे को सोलह देता हूँ।

दादी बोली—'सोलह तो बहुत कम होती है, भला पचीस तो देते।'

मिठाईवाला—'नहीं दादी, अधिक नहीं दे सकता। इतनी भी कैसे देता हूँ, यह अब मैं तुम्हे क्या....! खैर, मैं अधिक न दे सकूँगा।'

रोहिणी दादी के पास ही बैठी थी। बोली—'दादी, फिर भी काफी सस्ती दे रहा है। चार पैसे की ले लो। ये पैसे रहे।'

मिठाईवाला मिठाइयाँ गिनने लगा।

'तो चार की दे दो। अच्छा, पचीस न सही, बीस ही दो। अरे हाँ मैं बूढी हुई, मोल-भाव अब मुझे ज्यादा आता भी नहीं।'—कहते हुए दादी के पोपले मुँह की जरा-सी मुस्कराहट भी फूट निकली।

रोहिणी ने दादी से कहा—'दादी, इससे पूछो, तुम इस शहर मे और भी कभी आये थे, या पहली बार आये हो। यहाँ के निवासी तो तुम हो नहीं।'

दादी ने इस कथन को दोहराने की चेष्टा की ही थी मिठाईवाले ने उत्तर दिया—'पहली बार नहीं, और भी कई बार आ चुका हूँ।

रोहिणी चिक की आड़ ही से बोली—'पहले यही मिठाई बेचते हुए आये थे, या और कोई चीज ले कर?'

मिठाईवाला हर्ष, संशय और विस्मयादि भावो मे डूब कर बोला—इससे पहले मुरली लेकर आया था, और उससे भी पहले खिलौने ले कर।'

रोहिणी का अनुमान ठीक निकला। अब तो वह उससे और भी कुछ बातें पूछने के लिए अस्थिर हो उठी। वह बोली—'इन व्यवसायों मे भला तुम्हें क्या मिलता होगा?'

वह बोला—'मिलता भला क्या है ! यही खाने-भर को मिल जाता है । कभी नहीं भी मिलता है । पर हाँ, संतोष और कभी-कभी असीम सुख जरूर मिलता है । और यहीं मै चाहता हूं ।'

'सो कैसे ? वह भी बताओ ।'

'अब व्यर्थ उन बातों की क्यों चर्चा करूँ ? उन्हे आप जाने ही दें । उन बातों को सुन कर आप को दुःख ही होगा ।'

'जब इतना बताया है, तब और भी बता दो । मै बहुत उत्सुक हूँ । तुम्हारा हर्जा न होगा । मिठाई मैं और भी कुछ ले लूँगी ।'

अतिशय गम्भीरता के साथ मिठाईवाले ने कहा—'मैं भी अपने नगर का एक प्रतिष्ठित आदमी था । मकान, व्यवसाय, गाड़ी-घोड़े, नौकर-चाकर, सभी कुछ था । स्त्री थी; छोटे-छोटे दो बच्चे भी थे । मेरा वह सोने का संसार था । बाहर संपत्ति का वैभव था, भीतर सांसारिक सुख का । स्त्री सुन्दर थी, मेरा प्राण थी । बच्चे ऐसे सुन्दर थे जैसे सोने के सजीव खिलौने ! उनकी अठखेलियों के मारे घर मे कोलाहल मचा रहता था । समय की गति ! विधाता की लीला ! अब कोई नहीं है । दीदी, प्राण निकाले नही निकले । इसीलिए अपने उन बच्चो की खोज मे निकलता हूँ । वे सब अन्त मे होंगे तो यही कही । आखिर कहीं-न-कही जन्मे ही होगे । उस तरह रहता, तो घुल-घुल कर मरता । इस तरह सुख-संतोष के साथ मरूँगा । इस तरह के जीवन मे कभी-अपने उन बच्चो की एक झलक-सी मिल जाती है। ऐसा जान पडता है, जैसे वे इन्हीं में उछल-उछल कर हँस-खेल रहे हैं । पैसों की कमी थोड़े ही है, आपकी दया से पैसे तो काफी है । जो नहीं है, इस तरह उसी को पा जाता हूँ ।'

रोहिणी ने अब मिठाईवाले की ओर देखा । देखा—उसकी आँखें आँसुओं से तर है ।

इसी समय चुन्नू मुन्नू आ गये । रोहिणी से लिपट कर, उसका आँचल पकड़ कर बोले—'अम्मा मिठाई !'

'मुझसे लो'—कह कर, तत्काल कागज की दो पुड़ियाँ, मिठाइयों से भरी, मिठाईवाले ने चुन्नू-मुन्नू को दे दीं।

रोहिणी ने भीतर से पैसे फेक दिये।

मिठाईवाले ने पेटी उठाई, और कहा—'इस बार ये पैसे न लूँगा।'

दीदी बोलीं—'अरे-अरे, न-न, अपने पैसे लिए जा भाई!'

तब तक आगे फिर सुनाई पड़ा, उसी प्रकार मादक-मृदुल स्वर मे—'बच्चों को बहलानेवाला, मिठाईवाला!'

जैनेन्द्र कुमार

[श्री जैनेन्द्र कुमार का आगमन हिन्दी-जगत् में कहानीकार के रूप में सन् १९२८ में हुआ। आपका जन्म सन् १९०५ में एक सम्भ्रान्त जैन-कुल मे हुआ। आपकी प्रतिष्ठा 'परख' उपन्यास द्वारा कथा के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हुई। आप की कहानियाँ जनता से पसन्द भी की गयीं। आप कहानी, उपन्यास और निबंध सभी क्षेत्रों में सफल माने जाते हैं। आपने इति-वृत्तात्मक, दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखी हैं। आप की भाषा व्यावहारिक है, पर उलझी हुई भी है। कहीं-कहीं विचारों की प्रधानता जी को उबा देती है। फिर नवीन पद्धति के कहानीकार के रूप में इनकी गणना इसलिए की जाती रहेगी कि ये दार्शनिक कहानी लिखने में अपने क्षेत्र मे बेजोड़ हैं।]

[प्रस्तुत कहानी की गणना वातावरण प्रधान मनोवैज्ञानिक कहानी मे की जा सकती है। यद्यपि कहानी की घटनाएँ कुछ घंटों के भीतर ही घटती है, तो भी उनमे वर्षों के परिपक्व मनोभावों का प्रस्फुटित परिणाम दीखता है। स्नेह-सम्बन्ध के प्रति ममता की भावना बालकों में भी होती है और वे कभी-कभी तथ्य की ऐसी बात कह जाते है जो जीवन की दिशा परिवर्तित करने वाली होती है। इसी तथ्य का उद्घाटन प्रस्तुत कहानी में किया गया है। यद्यपि धनञ्जय की माँ क्लास में अव्वल आने पर भी उसे पीटती है, उसके मन की लालसा पूरी नहीं होने देती, तो भी प्रमिला के पधाररे पर अपने पिता के सम्मुख धनञ्जय ऐसे सत्य का उद्घाटन करता है, जिस सत्य को जान, बूझ और समझ कर भी धनञ्जय की माँ देखती भर रह जाती है। उस सत्य का उद्घाटन धनञ्जय ने जिस निर्भीकता से किया है, वह माँ के स्नेह-सम्बन्ध का परिचायक है और कहानी को अपने में पूर्ण बना देता है।]

कस्बे के हाईस्कूल के हाते मे लड़के इधर से उधर घूम रहे हैं। चहल-पहल है, उत्साह है; क्योंकि नतीजा निकलनेवाला है। देर सही नही जा रही है; और कमरों के अन्दर बन्द बैठे, बड़े मास्टर लोग मानों खास देर इसीलिए लगा रहे हैं। आखिर नतीजा निकला। चपरासी के लिए मुश्किल हुई कि वह कागज को बोर्ड पर चिपका सके। छीन-झपट, खोंच-तान मे पता न चला कि चपरासी बचेगा कि नहीं, लेकिन चपरासी की मौत न आयी और कागज भी साबित रहा। लड़के नतीजा देखते, जरा गौर से देखते, देख कर फिर लौट जाते। ऐसे क्रमशः हल्ला-गुल्ला कम हुआ। और तब अलग-अलग-सा एक लड़का, कठिनाई से दस वर्ष का होगा, धीमे से आगे बढ़ा और बोर्ड के सामने आ खड़ा हुआ। उसने थिरता से कागज देखा, अपने नाम के आगे मार्क्स देखने के साथ उसने आस-पास के नाम देखे। वह कुछ देर मानों वहाँ जमा खड़ा रहा, फिर हटा, और धीमी चाल से चल दिया।

उसका नाम धनंजय है, इस नतीजे से आठवें मे आ गया है और सातवें मे अव्वल आया है।

घर आकर कहा—'अम्मा, मै पास हो गया हूँ !'

उसकी माँ काम मे लगी थी, वह अनमनी रहती है। एक बार तो उसने सुना नहीं।

हठात् अपने उत्साह को उठाते हुए धनंजय ने कहा—'हाँ माँ, और अव्वल हूँ अपने सारे क्लास मे !'

पर माँ में उत्साह न था। उसने कहा—'अच्छा' और अपने हाथ काम से वह खींच न सकी। धनंजय ठिठका-सा ही रहा जैसे उसका अव्वल आना सही न हो, या उस पर खुश होना गलत हो।

सहसा कुछ याद करके माँ ने कहा—'तो ले कुछ खा ले, सबेरे ही चला गया, बिना कुछ खाये पिये। सुना ही नहीं। हाँ, तो अब आया है नौ बजे !'

धनंजय ने पूछा—'पिताजी गये ?'

'मैं क्या जानू, गये होंगे।'

धनंजय उत्तर के स्वर पर अस्त होने लगा, लेकिन फर्स्ट आना छोटी बात न थी; बोला—'जल्दी चले गये आज ! मै तो आया था कि....'

माँ ने कहा—'हाँ-हाँ निहाल करके रख देते वह तो, ले बैठ।'

धनंजय को बात समझ न आई, पर आये रोज यह देखता है और समझने की चेष्टा छोड़ चुका है। ऐसे अनसमझे ही समझदार होता जा रहा है। माँ की झिड़की पर वह चुपचाप हो बैठा। और जो उसके सामने खाने को रख दिया गया, खाने लगा; खाते-खाते हठात् वह अन्यमनस्क हो आया। दर्जे मे पहले नंबर आना और कुल दस वर्ष की अवस्था मे आठवें मे चढ़ जाना—इस सब कारगुजारी की बहादुरी और खुशी उसमे लुप्त हो गयी। उसे अजब-सा लग आया। उसे अपने बाप के प्रति सहानुभूति हुई। उसके मन मे चित्र उठ आया कि कैसे जल्दी मे कोट डाल कर, छतरी लेकर, खीझे-से पिताजी दफ्तर के लिए चल पड़े होंगे ! वह खाता रहा और अपने पिता को जाते हुए देखता रहा। सहसा उस सूने मे उसके पिता जी मिट गये और उस जगह पर माताजी आ गयीं। बोली—'और लेगा ?'

'नहीं।'

'तो अच्छा बैठ के अब पढ़। बाहर आना-जाना नही कही जो ऊधम मचाने निकल गये।'

बालक ने सुन लिया। एक क्षण को माँ की ओर देखता रहा, फिर आँखें नीची किये कर्त्तव्यपूर्वक खाने के बर्तनो को सामने से उठाया और उन्हें यथास्थान रखने को चला। माँ देखती रही। यह लड़का उसकी समझ से बाहर हुआ जा रहा है। कभी लड़के जैसा रहता ही नही, मानों एकदम बूढ़ा बुजुर्ग हो। तब वह डर जाती है, जैसे अपने पर पछतावा हो। और उस समय उस बुजुर्ग से बात छेड़ने का कोई उपाय भी नहीं रह जाता। उसमें सहसा मातृ-भावना उभडती है; पर उसके प्रकाशन का कोई कारण नहीं मिल पाता। परिणामतः उठी सहानुभूति रोष बन आती है। माँ बोली—'क्यों मेरे हाथ टूट गये हैं क्या कि लाडले साहब खुद बर्तन उठा कर चले ? सुन ले, यह मेरे यहाँ नही चलेगा। यह नखरे दिखाना अपने बाप को।'

बालक धीर-गंभीर अपने बर्तन रख कर लौटा। तौलिए से मुँह पोंछा

और बिना एक शब्द बोले छोटी-सी मेज के पास पड़ी कुर्सी पर ऐसे आन बैठा जैसे कुछ हुआ न हो।

माँ के लिए कुछ न रहा। बालक पर फूटती तो कैसे ? अपने को झिझोड़ती तो कैसे ? इससे झीखती हुई वह वहाँ से अलग चली गई और काया को एक दम काम मे झोंक दिया। वेग से वह काम मे जुट गई। उसके पास एक यही उपाय हैं—काम, काम, काम ! मन का पता लेने की उस समय जरूरत नहीं रहती। मानों बाहर सब सुन्न हो आया है और वह खुद काम मे फँस कर शान्त बनी रहती है।

काम के बीच उसने सुना—'मै जा रहा हूँ !' सुन कर माँ की हठीली शान्ति मे एकाएक आग लग गई। दहाड कर बोली—'नही।'

बालक मानों बहरा हो, उसने सुना ही न हो, वह द्वार की ओर बढ़ा कि बिजली की तेजी से माँ ने लपक कर उसे बाँह से पकड़ा। कहा—'जाता कहाँ है ? आ, आज तेरी हड्डी-पसली ही तोड़ कर रख दूँ।'

बालक ने प्रतिरोध ही नहीं किया। माँ ने भी मारा नही, खीचती हुई अन्दर ले जा कर खाट पर पटक दिया और कहा—'मुझे तूने क्या समझ रक्खा है ? मै घर की बस कहारन हूँ। एक बार जब कह दिया कि बाहर नहीं जाना है तो तुझे हिम्मत कैसे हुई उठने की ?'

खाट पर स्वस्थ-भाव से नीचे लटके पैरों को हिलाते हुए बालक ने कहा—'मुझे काम है।

'काम है !' माँ ने कहा, 'बताऊँ अभी तुझे काम ?'

लेकिन अपनी धमकी से माँ को संतोष न हुआ। कारण बालक सामने पूरी तरह स्वस्थ और सौम्य मालूम होता था। उस की देह को रोष का आवेग प्रचंड रूप से झकझोर गया। विस्मय यही था कि वह खड़ी कैसे रह सकी। बालक किंचित् मुस्करा कर शान्त भाव से बोला—'अव्वल आने की लड़को को मिठाई देनी है। पिताजी ने कहा था।'

'पिताजी ने कहा था। आये बड़े पिताजी, मिटाई खिलायेंगे ! घरवालों को पहले रोटी तो खिला लें। यों बस लुटाना आता है। नहीं, कोई नहीं, बैठ यही कोने मे, और अपना काम देख।

बालक चुपचाप पैर लटकाए बैठा माँ को देखता रहा। बोला नही। माँ क्षण भर उसे देखती रही। वह अपने को समझ न पा रही थी। इस

लडके पर उसे गर्व था। यह दुनिया मे उसी का बेटा है। उस का अपना बेटा है। अव्वल आया है। आयेगा क्यों नही ? मेरा बेटा जो है। बोली—'खबरदार जो हिला ! टाँग तोड़कर रख दूँगी जो कुछ समझता हो तो।' वह कमरे से बाहर होने को मुड़ी कि डग बढता-बढता रुका रह गया। एक बिजली-सी भीतर कौंध गई। वह टिठक आई। उसकी आँखें फैली। पूछा—'सच बतला, वही जा रहा था ?'

बालक जैसे प्रश्न को समझ न सका, वह विस्मय मे चुप रह गया।

बोली—'सब समझी हूँ। वही जा रहा होगा। कह गये होंगे चुपके से कि....आने दो अब कि उन्हे।'

बालक चुप रहा।

माँ ने कहा—'बोलता क्यों नही है? वही न ..मिठाई पहुँचाने जा रहा था।'

बालक बोला—'हाँ।'

माँ सुनकर सन्न रह गई। फिर उसका अपने पर बस न रहा। उस का हाथ छूट पडा और बच्चे को उसने खासी मरम्मत कर डाली। बच्चा पिटता रहा, मगर रोया नही। रोया नही, इससे माँ अपनी मार जल्दी न खत्म कर सकी। अन्त मे थकना हुआ और माँ बालक को खाट पर औंधा पडा छोड़ लौट आई।

सोचने लगी कि यही उस का भाग्य है। घर मे एक वह है और उस का काम। काम ही एक संगी है। एक रोज इसी मे मर जाना है। बाकी तो सब बैरी है। मुझे तो मौत आ जाये तो भला। एक वह है कि सवेरे छाता उठाया और चल दिये, और शाम को आये कि सब किया-धरा मिले। एक मै करूँ और मैं ही मरूँ। मरने को मै और मौज करने को चाहे कोई दूसरी....और एक यह है कम्बख्त। मुझे तो गिनता ही नही, बस सदा उनके कहने मे। घर क्या जेल है; एक इसने बाँध रखा है ! नहीं तो जहाँ होती चली जाती, मगर यहाँ का मुँह न देखती, न दाना लेती, न पानी—पर यह छोकरा ऐसा बेहया है कि....

सोचती जाती और करती जाती थी काम। हाथ काम पर तनिक भी शिथिल न पड पाते। सफाई उसने अतिरिक्त कर डाली। व्यवस्था और व्यवस्थित हो गई। तो भी समय का. अन्त न आया। यह उसे अच्छा न लगता था, खालीपन उसे काटता था। विश्राम मानों उसे नरक हो जाता

था। पर काम हो कुछ न रह गया था। ऐसे मे वह अन्दर गई, देखा बालक पड़ा सो रहा है। उसे पहिले अचरज हुआ। मानो याद करके उसने जाना कि वह तो पिट कर सोया है। वह कुछ देर खाट के पास खडी अपने इस अबोध शिशु को देखती रह गई। उसमे अनुताप उमडा। उसके मन मे अपने इस लाडले के लिए प्यार भर आने लगा। देखा कि घर मे ही रह कर भी अनाथ-सा रहता है। मै जब हुआ झिडकती रहती हूं। उन्हे........गो उन को कहाँ ध्यान है अपना या किसी का! वह आहिस्ता से अपने छौने के पास आन बैठी। फिर हौले से उनके गाल के नीचे अपनी हथेली दे कर चेहरा ऊपर उठाते हुए बोली—'बेटे!'

बालक ने आँख खोली, जैसे उसे पहिचानने मे कुछ देर लगी हो। फिर भी उसे माँ का यह प्यार अच्छा लगा, जैसे कब से छूट गया हो और अब मुद्दत बाद मिला हो। उसने फिर आँखे मीच ली और अपने को उस प्यार मे अशक्य छोड़ दिया, बालक की दोनों कनपटियो को हाथ मे ले कर माँ बोली—'आँख खोल बेटे, क्या इनाम लेगा माँ से बता?'

बेटा विह्वल हुआ पडा रहा, उसने कुछ बताया नहीं। माँ ने कहा—'दो रुपये लेगा। अच्छा चल पाँच रुपये, उठ!'

इतने मे ध्वनि आई—'ओहो आज तो बडे प्यार हो रहे है' साथ ही बालक के पिता ने एक खूँटी से छाता लटकाया और कोट के बटन खोलना शुरू किये।

बालक की माँ फौरन उठ गई। चेहरा खिच आया, ओठ बन्द हो गये, और वह तेजी से बाहर जाने को हुई। बालक झपट कर उठ बैठा। बोला—'पिताजी, मै क्लास मे फर्स्ट आया हूं।'

पिता बोले—'ओह, तभी तो कहूँ कि पाँच रुपये किस बात का इनाम है।'

माँ बोली—'कैसे पाँच रुपये! आसमान से आ जायेगे। ला के दिया है तुमने इस महीने में? घर मे तो मै हूं, रुपये होंगे किसी और के लिये।'

'अच्छा, अच्छा,' पिता बोले, 'बोल भाई क्या इनाम लेगा?'

बालक सोचता रह गया। बोला—'आप देगे?'

पिता बोले—'कैसे पागलकी-सी बात करता है! अरे देंगे नही तो क्या यों ही। सौ लड़कों में अव्वल आया क्या हँसी-खेल है?'

माँ बोली—'ला रे मेरे पाँच रुपये'—और बच्चे के हाथ से अपना पाँच का नोट ले वह झपट कर चौके मे चली गई।

उसी समय जीने पर चप्पलों की आहट हुई, और प्रमिला ने प्रवेश किया। हाथ मे उसके रुमाल से ढकी तश्तरी थी। बालक उसे देखते ही उछाह से उसकी ओर दौड़ा। प्रमिला बोली—'सबर तो कर, तेरे ही लिए तो यह लाई हू। क्यों रे कहा भी नही, और अव्वल आ गया।'

बालक के पिता ने कहा—'प्रमिला!' और मानों वह आस-पास देखने लगे कि पत्नी कहाँ है। पत्नी आहट पा हाथ का सब काम छोड़ नीचे की ओर आँख लगा रही थी और यद्यपि चौके से नहीं निकली थी; पर अन्दर कोने की खिड़की से सब कुछ निगाह मे रखने का प्रयत्न कर रही थी।

प्रमिला के गले से लगे-लगे अपनी जगह आते हुए बालक को सहसा माँ के चेहरे की झलक दीख गई।

प्रमिला ने कहा—'यह ले बेटे, बता और क्या इनाम लेगा?

'माँगूँगा, तो दोगी?'

'हाँ दूँगी। पर तू बदमाश है, मुझी को न माँग लेना?'

'बुरा तो न मानोगी?'

'सुना पगले की बातें। इसका मै बुरा मानूँगी।'

बालक ने प्रमिला को पास बिठा लिया। उसके गले मे हाथ डाल कर वह बोला—'देखो टालना मत! मेरा इनाम यह है कि इस घर मे तुम अब से कभी मत आना। तुम मुझे प्यार करती हो न!'

पिता बोले—'यह क्या बकवास है मुन्ने?'

मुन्ने ने कहा—'आप भी तो इनाम देंगे, यही दीजिये कि इनसे कभी मत मिलिये।'

पिता कुछ समझें कि झपटती हुई माँ आई। बालक को गोद मे उठाकर बोली—हाथ क्यों बन्द किये हो जी? खोल कर आगे क्यों नहीं कर देते, दस का नोट। मुट्ठी में नाहक मुड़ रहा होगा।....और प्रमिला, बड़े दिनों मे आई हो। बैठो, तुम भी चखो न यह खुशी की मिठाई!'

बालक ने सब को देखा। मानों मैल धुल गया, क्षण को ही सही, पर क्षण क्या सत्य नहीं होता!

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

[आप का जन्म जालन्धर में १९१० में हुआ था। वहीं अपने बी० ए० और वकालत की शिक्षा प्राप्त की। प्रारम्भ में आप उर्दू मे लिखा करते थे। हिन्दी मे पहली बार 'हंस' में आप की कहानी प्रकाशित हुई। आप हिन्दी में निरन्तर कहानी, उपन्यास, प्रहसन, एकांकी, नाटक, कविता और निबंध लिख रहे हैं। आप दिल्ली रेडियो तथा फिलम-क्षेत्र में भी रह चुके हैं। आजकल अपनी पत्नी कौशल्या 'अश्क' के साथ नीलाभ प्रकाशन नामक संस्थान का संचालन कर रहे हैं। अश्क जी व्यंग्यवादी शैली के यथार्थवादी कहानीकार हैं। उनकी भाषा सहज और चलती हुई है। प्रेमचन्द जी के शब्दों में आप की कहानियों की स्वाभाविकता और थीम से उन का सामीप्य उनके विशेष गुण हैं। निश्चय ही यथातथ्यवादी कहानी-लेखकों में अश्कजी की गणना सम्मानपूर्वक की जायेगी।]
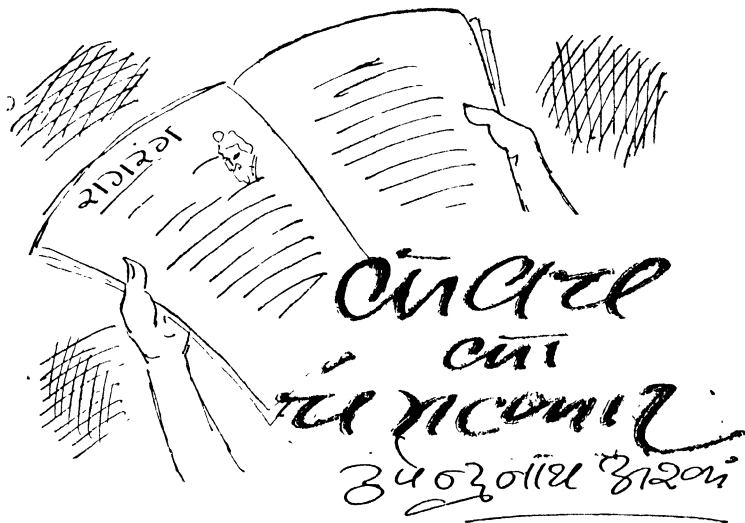
[ग्रश्कजी प्रस्तुत कहानी 'पुनर्मूपिको भव' वाले सिद्धान्त की प्रतिष्ठापिका है। छल-प्रपंच द्वारा प्राप्त पद की संस्थिति ग्रधिक स्थायी नहीं हो सकती। यह ही कहानो का प्रतिपाद्य है। यद्यपि कहानी स्केच के ढंग पर ग्रारम्भ होती है; किन्तु कवच की करामात के विज्ञापन के बदले घासीराम को मालिक का पत्र ग्रौर महात्माजी का पत्र एक साथ दिला कर कहानी को यथास्थान पूर्णता पर प्रतिष्ठित कर दिया गया है। बोलचाल की भाषा में चरित्र चित्रित करनेवाली प्रमुख कहानियों मे इस कहानी की बराबर गणना की जाती रहेगी। प्रारम्भ मे लेखक घ० र० का वर्णन कर युग में व्याप्त छद्म चेतना पर भी सुन्दर व्यंग्यारोप करने मे लेखक सफल हुग्रा है। निश्चय ही 'कवच की करामात' एक उत्कृष्ट कहानी है।]

नीलकमल जी का पूरा नाम तो घासीराम था, लेकिन यह बात कुछ-एक मित्रों के अतिरिक्त किसी दूसरे को मालूम न थी। आम लोग तो उन्हे घ० र० 'नीलकमल' के नाम से जानते थे। यह घ० र० क्या बला है? इसकी व्याख्या वे अपने आप को समझाने के लिए कई तरह से कर लेते थे। अधिकांश का मत यह था एक 'घ०' उनके पिता के नाम का द्योतक है और 'र०' उनके अपने नाम का और 'नीलकमल' उनका गोत्र था। आपत्ति करने वाले यदि यह कहते कि पंजाब और यू० पी० मे अपने नाम के साथ अ ने पिता, गाँव, तहसील का नाम देने की प्रथा नहीं, तो उन्हे समझा दिया जाता कि गुजरात के प्रसिद्ध विचारक र० डी० टेपनवाला, जिनके बहुत से विचार हिन्दी के द्वारा हम तक पहुँच चुके है, और हिन्दी के ख्यातिप्राप्त लेखक फ० टी० वैशम्पायन की देखा-देखी हिन्दीवाले भी इस रीति से अपने पिता का नाम रौशन करना और यदि पिता का नाम रौशन है तो स्वयं उसका लाभ उठाना बुरा नहीं समझते। रहा गोत्र, तो जहाँ पंजाब मे भल्ला, पकौड़ी, बहल, टहल, कक्कड़, मक्कड़, आदि और सिन्ध मे पानी की तर्ज पर बाबालानी, मलकानी, खिलनानी, सुरमेदानी और महाराष्ट्र मे पत्थर की तर्ज़ पर ठक्कर, नक्कर, पड़कर, बोरकर, बोदे, बोगड़े आदि गोत्र हो सकते है, तो 'नीलकमल' ऐसा सुन्दर गोत्र क्यों नहीं हो सकता!

कुछ भी हो, हिन्दी मे इस प्रथा के आरम्भ ने नीलकमल जी की बड़ी सहायता की और माता-पिता ने उन्हे कुदृष्टि से बचाने के लिए उनका जो दृष्टि-प्रूफ नाम रखा था, उसे मित्र-शत्रुओं के उपहास की दृष्टि से बचाने का उपाय सुझा दिया। घासीराम जी की सूरत-शक्ल कुछ ऐसी न थी कि उन्हें कुदृष्टि का डर होता, पर बात वास्तव मे यह थी कि उनके माता-पिता की संतान हो कर मर जाती थी। उनके स्वर्गीय भाइयो के नाम उनके माता-पिता ने बड़े उत्साह से सुरेन्द्रनाथ, देवेन्द्रनाथ आदि रखे थे। पर जब वे सब-के-सब अपने जन्म के कुछ मास अथवा कुछ वर्ष बाद काल-कवलित हो गये, तो नीलकमल जी तक पहुँचते-पहुँचते उन का उत्साह ठंडा पड़ चुका था। उनके जन्म

पर उन्होंने हतोत्साह हो कर, विनम्रता-वश अपने काल्पनिक शत्रु की कुदृष्टि से नवजात शिशु को बचाने के हेतु यह सीधा-सा नाम रख दिया—घासी-राम। प्रथा भी ऐसी है, इसी प्रथा की फ़ैक्टरी से प्रतिवर्ष फकीरचन्द, साधूराम, टीकमलाल, चूहड़चन्द, कौड़ूमल आदि न जाने कितने दिलचस्प नाम निकलते हैं। उनके माता-पिता की यह उक्ति बड़ी सफल सिद्ध हुई। अपने से पहले और अपने से बाद आनेवाले अपने भाई-बहनों में केवल घासीरामजी बचे। बच तो गये, पर जब उन्होंने कुछ होश सम्हाला और बचपन से लेकर युवावस्था तक कुछ अपने रूप-रंग और कुछ इस नाम के कारण वे अपने साथियों के उपहास का कारण बने, तो यह नाम उन्हे इस हद तक अखरने लगा कि एक दिन वे घासीराम से 'घ० र०' बन गये; लेकिन घ० र० के साथ एक और शब्द की आवश्यकता पड़ी, जिससे कि उनके मित्र अथवा पाठक (उन्हीं दिनों उन्होंने कविता करना आरम्भ किया था) उन्हे पुकार सकें।

नीलकमलजी का गोत्र बड़ा अच्छा था—'सोनरेक्सा'। उन्होंने एक बार एक कार्ड पर बड़े सुन्दर अक्षरों में गोत्र सहित अपना पूरा नाम घासीराम सोनरेक्सा लिख कर ओरिएन्टल कालिज के होस्टल मे अपने कमरे के दरवाजे पर लगा भी दिया था, उनके मित्र पिछले 'स' को 'श' पुकारते थे। इसके अतिरिक्त सोनरेक्सा पुकारने में उन्हे कुछ कठिनाई होती थी, इसलिये नोनरिक्शाजी पुकारने लगे। और सोनरेक्शा से क्योंकि 'सोने का रिक्शा का' बोध होता था, इसलिए उनके सहपाठियों ने उन्हे 'सोने की रिक्शावाला' बना दिया। जब भी कोई उससे मिलने आता और उनके कमरे का पता पूछता तो उनके साथी सदैव उससे प्रश्न करते—"क्यों जी, आप किन घासी राम से मिलना चाहते है ? 'सोने की रिक्शावाले' घासीराम से अथवा दूसरे से।" एक दिन नीलकमलजी ने यह सुन लिया। बस उसी दिन न केवल कार्ड उतार फेंक दिया, वरन् इस गोत्र से भी विरक्त हो उठे। इस विरक्ति का एक दूसरा कारण भी था। नीलकमल जी कवि थे। उनके मित्रों का और उनका अपना भी यह विचार था कि यदि वे आभ्यास जारी रखें तो 'निराला' से किसी तरह पीछे न रहेंगे। भगवान् ने उन्हें

डील-डौल भी 'निराला' का-सा दिया है, भावुक हृदय और प्रतिभासम्पन्न मस्तिष्क दिया था। फिर उनके 'निराला' बनने में उस सर्वशक्तिमान को क्या आपत्ति हो सकती थी—बल्कि इस सम्बन्ध मे वे स्वयं भी पूरा जोर लगाने को तैयार थे। इसी कारण उन्हें अपने भावी पाठकों को बड़ी चिन्ता रहती थी। चन्द्रमणी सोनरेक्सा या चारुचन्द्र सोनरेक्सा तो ठीक, पर घासीराम सोनरेक्सा.......एक तो कड़वा करेला, दूसरे नीम चढ़ा। उनको विश्वास था कि नाम पढ कर ही न केवल सम्पादक बिना पढ़े कविता लौटा देंगे। बल्कि यदि किसी ने छाप भी दी तो पाठक कवितावाला पृष्ठ पलट देंगे। उन्हीं दिनों वे एक फिल्म देखने गये और जब उन्होंने उसका गाना 'नीलकमल मुस्काए' सुना, तो उनकी समस्या हल हो गई। घ० र० बनने का निश्चय उन्होंने उसी दिन कर लिया था जिस दिन एक लेख पर उन्होंने फ० टी० वैशम्पायन लिखा हुआ देखा था! सोनरेक्सा से वे घबराते थे, स उस फिल्म ने उनकी मुश्किल आसान कर दी। उसी दिन से वे घ० र० 'नीलकमल' बन गये।

नीलकमलजी मैट्रिक तो थे, पर उसके बाद कालिज में प्रवेश करने की सुविधा न होने के कारण हाथ धो कर संस्कृत की परीक्षाओं के पीछे पड़ गये थे। तब उनका विचार था कि शास्त्री करके किसी-न किसी प्रकार अंग्रेजी में एम० ए० करेंगे और जीवन को अध्यापन के शुभ काम में लगायेंगे। लेकिन तभी जब से उस शाम फिल्म देख कर आये, उन्होंने रात भर में एक साथ कई गीत लिख डाले और उपनाम भी रख लिया। मित्रों ने उनके गीत सुने, डील-डौल को देखा और उनके उपनाम की घोषणा सुनी, तो फतवा दे दिया कि उनमे महाकवि बनने की अपार प्रतिभा है और अध्यापक का नीरस जीवन उन जैसे प्रतिभांवान् के लिए नहीं बना। अपने मित्रों का फतवा सुन कर नीलकमलजी ने भी मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि वे उच्चकोटि के कवि बन कर ही दम लेंगे। बड़ी निष्ठा से उन्होंने गीत लिखने आरम्भ कर दिये और कुछ दिनों ही में, महाकवि टैगोर के अनुसरण में 'गीतांजली' सृज डाली। उनके मित्रों ने भी घोषित कर दिया कि यदि इस पर 'नोबेल' पुरस्कार नहीं मिलता तो उसका एक कारण यही हो सकता है कि टैगोर

सम्पन्न थे, विलायत जा सकते थे, बड़े-बड़े कवियों से भूमिका लिखवा सकते थे और 'नीलकमल' जी विपन्न हैं। मित्रों की यह बात सुन कर नीलकमलजी को पहली बार प्रचार और पत्र-पत्रिकाओं का खयाल आया और उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं पर गीतों और कविताओं की 'ब्लिट्ज' कर दी।

उनकी कविताएँ वापस आ गई। जो वापस नही आई, वे छपी नहीं। तब अपने मित्रों के परामर्श से उन्होंने निश्चय किया कि वे स्वयं समाचार-पत्र अथवा मासिक-पत्रिका निकालें। पत्र अथवा पत्रिका निकालने के लिए बड़ी पूँजी और पूँजी से अधिक अनुभव जरूरी था। नीलकमल जी के पास दोनों का अभाव था। एक बार जब बात उनके मन मे समा गई तो फिर उन्हें रोकना देवता के बस में भी न था। शास्त्री पास करते ही कविताओं के पुलन्दे बगल मे दबाये वे लगे पत्र-पत्रिकाओं के आफिसों, उनके सम्पादकों एवं व्यवस्थापकों और संचालकों के घरों का चक्कर लगाने। अत्यधिक प्रयास करने पर भी उन्हें किसी पत्र-पत्रिका के सम्पादन-विभाग मे नौकरी न मिली। घासीराम जी हतोत्साह न हुए। अपने प्रयास उन्होंने जारी रखे। आखिर उनकी इस घोर निष्ठा से प्रभावित हो कर एक व्यवस्थापक ने उन्हे अपने विभाग में बीस रुपये मासिक पर क्लर्क रख लिया। काम उनका था घूम-फिरकर विज्ञापनदाताओं के यहाँ से रुपये उगाहना और चपरासी से लेकर एकाउंटेण्ट तक, दफ्तर के सब छोटे-मोटे काम करना।

चन्द महीने 'नीलकमल' जी ने उस जगह काम किया और सम्पादक की मिन्नत-खुसामत से उस पत्र मे अपने चन्द्र गीत छपवा दिये। अपने इसी चन्द महीने के अनुभव और उन चन्द छपे हुए गीतों की पूँजी से उन्होंने 'नवनिर्माण' के व्यवस्थापक का स्थान प्राप्त कर लिया। वेतन तो उनका वही बीस रुपया रहा, पर पत्र के स्वामी ने उन्हे यह आश्वासन दिया कि यदि वे अपने परिश्रम के बल पर पत्र को बन्द होने से बचा दें, ('नवनिर्माण' उस समय अवसान की ओर त्वरित गति से अग्रसर था), तो जो भी लाभ हो उसमें से आधा उनको मिलेगा।

परन्तु 'नीलकमल' जी व्यवस्थापक बनने तो आये न थे। व्वस्थापक बनते ही उन्होंने सम्पादक को आदेश दिया कि पत्र बड़ा नीरस है और इसमें कुछ रस उत्पन्न करना चाहिए और इस काम में उसकी सहायता करने के विचार से अपने गीत उसे दिये। सम्पादक स्वयं अपने आपको टैगोर से कम न समझता था और मुफ्त मे सम्पादन करता था। उसने इस नोट के साथ कि 'आप व्यवस्थापक तक ही सरगर्मियों को सीमित रखे' कविताएँ लौटा दीं। नोट पढ़कर 'नीलकमल' जी बड़े नीले-पीले हुए और दूसरे ही दिन न केवल पत्र के व्यवस्थापक थे वरन् सम्पादक भी।

हुआ यों कि उस शाम जब वे मालिक से मिलने गये (वे रोज संध्या को वहाँ हाजिरी देने जाते थे), तो उन्होंने उसको समझाया कि पत्र की संख्या में कमी होने का बड़ा कारण यह कि सम्पादक निरा बुद्धू है और पत्र मे तनिक भी रस नहीं। जब मालिक ने उन्हे बताया कि वह मुफ्त में काम करता है तो उन्होंने समझाया कि इसी कारण वह उसमें रस नहीं उत्पन्न कर सकता। उसका अधिक समय दूसरे पत्रों मे काम करने मे गुजरता है। हमारा पत्र तो वह कैंची की सहायता से भरता है और सम्पादक के रूप मे जो उसका नाम आता है, उस का लाभ उठाता है। और उन्होने मालिक से कहा कि वे सम्पादक का भार भी सम्हालेंगे। उन्हें वेतन नहीं चाहिए। बस लाभ पर चलने लगे तो वे आधे के भागी होंगे।

उन का डील-डौल, निष्ठा और उत्साह देख कर मालिक बड़ा प्रभावित हुआ और उसे विश्वास हो गया कि उस का पत्र, जिसे वह नित्य बन्द करने को सोचता था, अब अपना पुराना गौरव पा लेगा। 'नीलकमल' जी पत्र के सम्पादक बने और पहला अंक जो उनके सम्पादन मे निकला, उसके पहले पृष्ठ पर उनकी कविता थी।

कविताओ के प्रचार की चिन्ता मिटी तो 'नीलकमल' जी पत्र की प्रकाशन संख्या बढाने की ओर लगे। लेकिन यहीं पहुँच कर उनकी गाड़ी ऐसी दलदल में फँसी कि अपने वृषभ कन्धों से वे जोर लगा-लगा कर हार गये, पर उसे रंच मात्र भी आगे न बढ़ा सके।

एक अनुभवी पत्रकार कहता है कि पत्र-पत्रिकाओं का जीवन भी मानव-जावन ही-सा उन्नति और अवनति की सीमाओं में बद्ध है। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ मानव गिर कर उठते देखे गये है, वहाँ कोई पत्रिका जो एक बार गिरी, उठती नहीं देखी गयी। लेकिन 'नीलकमल' जी नैपोलियन' ही की भाँति असम्भव को कायरों के शब्द कोश की चीज बताते थे। उन्होंने इस डूबे पत्र को उभाड़ने के लिए दोहरा प्रयास आरम्भ कर दिया।

जहाँ तक सम्पादन का सम्बन्ध है, उन्होंने नये-नये स्तम्भ सोच-सोच निकाले। अग्रलेख, नोट, कहानियाँ, कविताएँ तो पहले भी होती थीं। 'नील-कमल' जी ठहरे कवि, वे पत्र की उबा देनेवाली नीरसता को एकदम सरस बना देना चाहते थे। सो उन्होंने 'पद्य-संसार, 'गद्य-वाटिका', रजतपट के पीछे से', 'रंगमंच के आगे से', 'प्रान्त के कोने-कोने से', मार्केट के बीचों-बीच से', आदि कई नये स्तम्भ स्थापित किये। एक मित्र की सहायता से 'इब्सन और मैत्रलिक' के अनुवाद भी अपने साप्ताहिक पत्र मे प्रकाशित किये। उन दिनों पत्रकार-जगत् मे विशेषांक का जोर था, नीलकमलजी ने महीने के चारों अंक' चार विशेषांक बना डाले और 'गृहस्थी अंक' से लेकर 'वेश्या अंक तक निकाल दिये।

व्यवस्थापन पक्ष में उन्होंने पहला काम जो किया, वह यह था कि उन्होंने पत्र के मुख्य पृष्ठ पर 'उत्तरी भारत का मुख्यतम बहुसंख्यक' छपवा दिया, और पत्र के पुराने आडिटर से उस समय का सार्टिफिकेट ले लिया, जब छकड़ों पर लद कर डाकखाने जाता था। उस पत्र की तारीख उड़ा कर उसका ब्लाक बनाया और उसे पत्र में छपवा दिया और प्रतियाँ सभी विज्ञापनदाताओं को भेज दीं। इसके साथ ही उन्होंने कई औषधियों और पुस्तकों के रिव्यू बिना वे औषधियाँ और पुस्तकें पाये ही छाप दिये।

सम्पादन और व्यवस्थापन मे इन सुधारों के पश्चात् 'नीलकमल' जी को पूरा भरोसा था कि जहाँ एक और पत्र की ग्राहक संख्या बढ़ेगी वहाँ विज्ञापन भी जूतों की भाँति बरसने लगेंगे। लेकिन जब दोनों में से कोई बात न हुई और मैनेजरी और सम्पादकी के अतिरिक्त उन्हें पत्र के मालिक

तथा मालकिन की फरमाइशें पूरी करने को बाध्य होना पड़ा, तो वे बड़े दुःखी हुए। मालिक पत्र को बन्द करना चाहते थे। इसके साथ ही 'नीलकमल' जी को अपने सब स्वप्न भंग होते दिखाई देते थे। उन्होंने वेतन लेना छोड़ दिया था। रोटी मालिक के घर ही खा लेते थे। लाभ होने पर आधे होने की शर्त के कारण एक दिन पत्र के एकमात्र स्वामी होने का उन्हें पूरा विश्वास तो था ही, पर एक पत्र के स्वामी हो कर पत्र-शृंखला के संचालक होने, अपना बंगला और मोटर रखने के स्वप्न भी वे नित्य ही देखा करते थे। जब मालिकपत्र बंद करने की धमकी देता तो उन्हें अपने समस्त स्वप्न-महल धराशायी होते दिखाई देते। इसी कारण उन्होंने वेतन लेना छोड़ दिया था और मालिक तथा मालकिन की छोटी-मोटी फरमाइशें पूरी कर देते थे कि किसी प्रकार पत्र बंद न हो और उनके स्वप्न न टूटें।

एक दिन वे कड़कती धूप मे डेढ़ मील चल कर मालकिन के लिए कोयले लाये और कोयले की दलाली में हाथ-मुँह काला करने के उपरान्त भी उन्हे सुनना पड़ा कि कोयले अच्छे ये, तो वे खिन्न मन से आ कर दफ्तर मे बैठ गये। उनकी खिन्नता दूर करने के लिए न कोई विज्ञापन आया, न कोई मनिआर्डर। लेकिन तभी सहसा एक साप्ताहिक के पन्ने पलटते-पलटते उन्हे एक ऐसी चीज दिखाई दी कि वे फड़क उठे। उल्लास के मारे उनके लिए कुर्सी पर बैठे रहना कठिन हो गया। यह चीज थी हरदेव स्वामी के ईश्वरीय कवच का विज्ञापन।

हरदेव स्वामी सिद्ध विज्ञापनदाता थे और उनका पूरे पृष्ठ का विज्ञापन प्रायः पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांकों में निकलता था। अपने कवच के सम्बन्ध मे उनका दावा था कि विशेष सूर्य-ग्रहण के दिन विशेष मंत्रों की सहायता से उन्होंने तैयार किया है। जो उसे दस रुपये की नगण्य राशि व्यय कर अपनी भुजा पर बाँधेगा, उसकी समस्त कामनाएँ पूरी हो जायँगी। गरीबी दूर हो जायगी, लक्ष्मी क्रीत दासी बनी हर इच्छा पूरी करने को प्रस्तुत रहेगी। रूठी हुई प्रेमिका अपने-आप आ कर गले का हार बन जायगी। परीक्षाफल सदैव अच्छा होगा। कारोबार में कभी घाटा न होगा।

नाराज हाकिम प्रसन्न होगा, और प्रसन्न हाकिम—हाकिम होने पर भी दास बन जायगा, आदि-आदि....क्योंकि नवयुवकों के आगे उन्नति का पूरा क्षेत्र होता है और प्रेमिका को बस में करने की चिन्ता अधिकतर उन्हीं को सताया करती है, इसलिए देश की बढ़ती पौध के लाभ हेतु स्वामीजी ने शिक्षार्थियों के लिए उसका मूल्य आधा कर दिया था। और बड़ी बात यह थी कि मुख्य अध्यापक का सार्टिफिकेट साथ भेजने की कैद न थी। जो भी छात्र चाहे पाँच रुपया भेज कर कवच मँगा सकता था। 'नीलकमल' जी ने, जिन दिनों वे उस फिल्म को देखने गये थे और उन पर नया नया कवि बनने का भूत सवार हुआ था और फिल्म की एक सुन्दरी ने उनके मन को मोह लिया था, किसी-न-किसी प्रकार पाँच रुपये जुटा कर एक कवच मँगाया था। उस समय लाभ तो क्या होता, उल्टे हानि ही हुई थी। यदि वे अपनी गांधी टोपी उतार कर लड़की के पिता के चरणों पर रख, गिड़-गिड़ाना और अपनी प्रेमिका को बहन से लेकर माँ तक घोषित करना आरम्भ न कर देते, तो न जाने उनकी क्या दुर्गति होती! परन्तु इस समय जब उन्होंने यह विज्ञापन पढ़ा तो उन्हें ऐसा लगा जैसे अन्धकार में स्वर्ण-किरण उतर आई हो और यद्यपि पहले इस कवच ने चाहे उन्हें जूते ही खिलवाये थे, पर अब वह उन्हें सब कठिनाइयाँ दूर करनेवाला दिखाई दिया।

तनिक सोच कर उन्होंने कलम-दावात उठाई और स्वामीजी को एक पत्र लिखा। उसमें पहले उनके कवच की प्रशंसा की, फिर अपने साप्ताहिक की। फिर बताया कि उन्होने आते ही उसका जीर्णोद्धार कर दिया है। प्रकाशन-संख्या कुछ उनके संपादन और कुछ व्यवस्थापन के कारण उत्तरोत्तर बढ रही है। अंत में उन्होंने स्वामीजी को नेक सलाह दी कि यदि वे अपना विज्ञापन 'नवनिर्माण' में देंगे तो उन्हें बड़ा लाभ होगा।

स्वामीजी को लिख कर अपने जोश में 'नीलकमल' जी ने दूसरे विज्ञापन-दाताओं को भी चिट्ठियाँ लिखीं थी, परन्तु उस ओर से उन्हे किसी प्रकार की सफलता की आशा न थी। स्वामीजी का विज्ञापन मिलने का उन्हें पूरा विश्वास था। एक बार स्वामीजी का विज्ञापन मिल जाय, फिर क्या

बात है। दूसरे विज्ञापन ले लेना उनके लिए बायें हाथ का काम था। जब ईश्वरीय कवच का विज्ञापन पूरे पेज में छपेगा, फिर कौन विज्ञापनदाता है जो उन्हें विज्ञापन न देगा।

स्वामीजी अमृतसर में काम करते थे। दो और अधिक-से-अधिक तीन दिन बाद उन का पत्र आने की आशा थी, पर 'नीलकमल' जी सप्ताह भर वहाँ से पत्र और विज्ञापन आने की बाट देखते रहे, और इधर पत्र के बन्द करने की धमकी पत्र के स्वामी की ओर से प्रति दिन बढ़ने लगी। पहले-पहल 'नीलकमल' जी ने सोचा कि स्वामीजो को दिन में बीसियों पत्र आते होंगे, इतनी जल्दी सब का उत्तर कैसे दे सकते हैं। पर फिर सोचने लगे कि 'नवनिर्माण' मे विज्ञापन देने का तो उन्हें लाभ ही था। फिर यह सोच कर मन को समझाया कि आखिर विज्ञापन आदि बनाने में देर लग जाती है और स्वामीजी तो बीसियों पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञापन देते होंगे।

होते-होते पन्द्रह दिन बीत गये। एक दिन 'नीलकमल' जी दफ्तर में आ कर बैठे, तो डाकिये ने कुछ पत्र-पत्रिकाओं और कुछ चिट्ठियों का बंडल उन्हें दिया। आशा और निराशा के मध्य झोके खाते हुए उन्होने चिट्ठियाँ खोलीं। सब-के-सब नवीन लेखकों के पत्र थे जिनके साथ कविताएँ, कहानियाँ और लेख थे। उन्हे रद्दी की टोकरी में फेंक 'नीलकमल' जी अन्यमनस्तकता से एक पत्र खोल कर देखने लगे। 'राग-रंग' ने अपना 'मनोरंजन अंक' निकाला था। पहले ही पृष्ट पर हरदेव स्वामी राज्य-ज्योतिषी का विज्ञापन था। 'नीलकमल' जी उसे देखते ही सहसा चौंके, मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था—

'ईश्वरीय कवच का चमत्कार' मैनेजर-संपादक, 'नवनिर्माण' लिखते हैं:—

"आदरणीय स्वामी जी,

देर हुई जब मैंने आपसे एक कवच पाँच रुपये में मँगवाया था। भगवान् को साक्षी करके कहता हूँ, उसे पहनने से मुझे बड़ा लाभ हुआ। मेरे हृदय में बचपन से ही किसो पत्र का सम्पादक बनने की बड़ी लालसा थी। आप को यह जानकर बड़ी प्रसन्नता होगी कि आप के कवच की बदौलत मैं आज 'नवनिर्माण' जैसे प्रसिद्ध साप्ताहिक का मैनेजर ही नहीं सम्पादक भी हूँ। सचमुच आप का कवच ईश्वरीय और अचूक है।"

ये शब्द थे जो 'नीलकमल' जी ने स्वामीजी को लिखे थे। क्रोध के मारे 'नीलकमल' जी का खून खौलने लगा। राग-रंग का यह अंक उठा कर उन्होंने धरती पर पटक दिया। तभी चपरासी ने एक चिट्ठी ला कर उनके हाथ में दे दी, जो मालिक के ओर से थी और जिसमें उन्हें सूचित किया गया था कि वे पत्र बन्द कर रहे हैं और दफ्तर उन्होने 'राग-रंग' को बेच दिया है।

'नीलकमल' जी ने आग्नेय दृष्टि से 'राग-रंग' पर छपे हुए ईश्वरीय कवच के विज्ञापन को देखा और चपरासी को दफ्तर सौंप कर बाहर निकल आये।

कुछ दिनों बाद मित्रों ने उन्हें फिर उसी बीस रुपये की कुर्सी पर बैठे देखा। यद्यपि इस बात को वर्षों बीत गये हैं, पर 'नीलकमल' जी बड़ी निष्ठा के साथ उस कुर्सी पर जमे हुए हैं। युद्ध के कारण उनका वेतन चालीस रुपये हो गया, पर मँहगाई के ख्याल से उनकी उन्नति नहीं वरन् अवनति ही हुई, क्योंकि युद्धकाल के चालीस रुपये पहले के दस रुपये के बराबर हैं।

'नीलकमल' जी ने न केवल अपना उपनाम छोड़ दिया है, वरन् वे फिर घ० र० से विशुद्ध घासीराम हो गये हैं। अब न उन्हे गोत्र की अपेक्षा है न उपनाम की।

स्व० पं० बलदेवप्रसाद मिश्र

स्व० पं० बलदेवप्रसाद मिश्र काशी के भारत-विश्रुत विद्वान् स्वर्गीय पं० त्रिद्याधर जी गौड़ के सुपुत्र थे। आप संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेजी के गंभीर विद्वान् थे। आप अनेक पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक रहे और आपने 'स्वतंत्र भारत' लखनऊ के रविवासरीय संस्करण का संपादन भी किया। आपने हास्य रस की गम्भीर कहानियाँ और कविताएँ भी लिखीं। आप के दो कहानी संग्रह 'शव-साधना' और 'उलूकतंत्र' आपके जीवन-काल में ही प्रकाशित भी हुए। आपकी प्रतिभा अपने क्षेत्र में अन्यतम रही। आप की भाषा प्रसाद-गुण-सम्पन्न, सरल और सहज है। आप की कहानियों में आप का विशाल अध्ययन स्पष्ट दीख पड़ता है। आपने ऐसे क्षेत्रों से अपने लिए कथा-वस्तु को चुना, जिन की ओर अन्य कहानीकारों का प्राय: ध्यान नहीं गया। आप निर्विवाद रूप से प्रथम कोटि के सफल कहानीकार थे।

[वर्त्तमान हिन्दी के कहानीकारों मे एकान्त कहानीकार स्व० पं० बलदेवप्रसाद मिश्र अपना अकेला स्थान रखते हैं। उनकी कहानी 'कोमल' इस सत्य की आख्यायिका है। इस कहानी को समझने के लिए यह आवश्यक है कि 'कोमल' शब्द का अर्थ समझ लिया जाय। जो बालक पाँचवें वर्ष में पैर रख चुका हो और उसका चूडाकरण (मुण्डन) संस्कार हो चुका हो, पर यज्ञोपवीत न हुआ हो और वह मर जाय, तो उसे तांत्रिकों की भाषा में 'कोमल' कहते हैं। सर्वाङ्गसुन्दर, ब्राह्मण 'कोमल' तांत्रिक को अलभ्य है।

सफल वातावरण के बीच परिचित सहज शैली में लेखक ने बहुत बड़े जीवन-मर्म का उद्घाटन इस कहानी में किया है। वह मर्म है—नश्वर मानव द्वारा छल-प्रपंच-युक्त अमरत्व की साधना सदैव निष्फल प्रमाणित होती है।]

ग्राम के पंडित श्रीशंकर त्रिपाठी के पुत्र गोकुल को सर्प ने काट लिया था ।

प्रथम वर्षा हो चुकी थी । वह प्रति वर्ष से इस बार बहुत अधिक हुई थी । प्यासी पृथ्वी सहसा उतना जल न पी सकी, पर दो ही दिनों मे सब जल उसमें समा चुका था और अब उसकी दाह उमस के रूप मे प्रकट हो रही थी । भाँति-भाँति के कीट उत्पन्न हो गये थे, सर्प घबरा कर बिलों से निकल चुके थे । दोपहर को गाँव से जरा दूर की अमराई मे, कुछ बालकों के साथ खेलते गोकुल को सर्प ने काट लिया था और अन्य बालकों से समाचार पाकर पंडित श्रीशंकर अपने पड़ोसियों के साथ जब वहाँ पहुँचे, तो उनके पुत्र पर विष का पूर्ण प्रभाव था । गोकुल अचेत था, उसका शरीर कुछ नीला था, उसके रोयें कुछ खड़े थे और उसके चेहरे पर मुस्कान थी ।

गोकुल गाँव में लाया गया । उसे जिस खाट पर लिटाया गया, उसे लोग घेरे खड़े थे । गोकुल की माँ, बुआ तथा कुछ अन्य स्त्रियाँ रो रही थीं ।

सहसा भीड़ के बीच से नारायण स्वामी आगे बढ़ते दिखलाई पड़े । वे इस गाँव मे चार वर्षों से रहते थे—गाँव से दूर । ये परम विरक्त थे, केवल एक बार मधुकरी लेने गाँव में नित्य आते थे । सब लोग उन पर श्रद्धा करते थे ।

नारायण स्वामी ने गोकुल की परीक्षा कर पूछा—'कुछ उपाय किया है ?'

श्रीशंकर ने कहा—'घी पिलाया था, जरा-सा पिया था । लोहना को बुलाने आदमी गया है ।'

'लोहना कौन ?'

'संपेरा ।'

नारायण स्वामी ने अपनी लाल लाल आँखों से श्रीशंकर को देख कर पूछा 'कुछ जानता है ?'

'वह झाड़ता है । उसका झाड़ा कोई भी मरने नहीं पाता ।'

'अच्छी बात है । उसका आसरा देखा जाय ।'

थोड़ी देर में लोहना आ गया । कोई ७० वर्ष का था—लम्बा-सा

कुरता पहने, घुटनों तक धोती, गले में और हाथों पर बहुत-सी जड़ी-बूटियों की मालाएँ बँधी हुईं।

उसने आते ही गोकुल को दूर से देखा, उसकी नाक के सामने हाथ रखा, नाखुन देखे और अपने माथे पर हाथ फेर कर कहा—'तच्छक ने काटा है बाबू ! लेकिन कोई हरज नहीं।'

लोग आस्वस्त हुए। लोहना ने कहा—'बच्चा को कुएँ पर ले चलिए और सिर पर दो-चार घड़े पानी छोड़िये। मैं झाड़ता हूँ।'

दो आदमी गोकुल को पकड़ कर बैठे, सिर पर पानी के घड़े उँड़ेले जाने लगे। लोहना सामने खड़ा हो कर कुछ बुदबुदाने लगा।....सौ घड़े उँड़ेले जा चुके। लोहना ने झुक कर गोकुल का मुँह देखा और उसके चेहरे पर कुछ चिन्ता व्यक्त हुई। उसने अपने गले से एक माला निकाल कर गोकुल को पहना दी और फिर झाड़ने लगा। और सौ घड़े उड़ेले जा चुके। लोहना ने फिर गोकुल का मुँह देखा और उसका चेहरा और गम्भीर हो गया।

नारायण स्वामी ने व्यंग्य से कहा—'मन्त्र भूल गये हो क्या ?'

लोहना ने स्थित दृष्टि से उन्हें देखा और कहा—'अभी बताता हूँ।'

लोहना ने अपनी जेब से दो कौड़ियाँ और पीली सरसों निकाली। कुछ पढ कर पीली सरसों चारों ओर फेंक दी और कौड़ियों पर फूँक मार-कर उन्हें खुली हथेली पर रखा। कौड़ियाँ धीरे-धीरे ऊपर उठने लगी। हाथ भर उठ कर वे तीर-वेग से एक ओर उड़ गयीं।

लोहना ने कहा—'तच्छक अभी यहाँ आ जाता है। अब वही जहर खींचेगा।'

नारायण स्वामी कुछ न बोले। वह उस ओर देख रहे थे, जिधर कौड़ियाँ उड़ गयी थी। लोहना आँखें बन्द किये, मूर्ति-सा खड़ा था। कुछ देर बाद उसके चेहरे पर मुस्कान आयी। उसने उल्लसित हो कर कहा—'पकड़ लिया, पकड़ लिया ! कौड़ी माथे पर चपक गयी। वह चला ! वह आया ! हटो, हटो !!'

और लोहना आँखें खोल कर एक ओर दौड़-सा पड़ा। उस ओर के लोग घबरा कर दाहिने-बायें हट गये। सामने से,एक सर्प तीर-वेग से आ रहा था। लोग और सिकुड़ गये।

सर्प लोहना के सामने रुका। उस के माथे पर दो कौड़ियाँ चपकी हुई थीं। लोहना ने मुस्करा कर कहा—'आ गये, आओ!'

लोहना खाट की ओर बढ़ा। सर्प पीछे चला—एकदम काला और दस हाथ लम्बा।

लोहना ने गोकुल को खाट से उठा कर जमीन पर लिटा दिया। सर्प उस से हाथ भर दूर था। वह अब कुंडली मारे बैठा था।

लोहना ने कहा—'तच्छक राजा, जहर खीच लो। मैं तुम्हें मरने न दूँगा।'

तक्षक झूमने लगा। लोहना ने कहा—'देर मत करो।'

तक्षक झूमता रहा।

लोहना ने मन्त्र पढ़ना शुरू किया। तक्षक की कुंडली ढीली होने लगी, वह लम्बा हो गया और गोकुल के चारों ओर घूमने लगा!

कुछ समय बीता, लोहना ने कहा—'सुनता नहीं! अच्छा!'

लोहना फिर बुदबुदाने लगा। तक्षक गोकुल के पैरों की ओर बढ़ा, रुका, और तब उछल कर जमीन पर सिर पटकने लगा और फुफकार मारने लगा।

लोहना मन्त्र पढ़ता रहा। तक्षक उसके पैरों के पास आया, जमीन से कोई तीन हाथ उठ कर उसने लोहना की ओर देखा, प्रचंड फुफकार मारी और गिर पड़ा।

लोहना ने ध्यान से तक्षक को देखा और उसे उठा लिया। तक्षक मर गया था। लोहना उसे लिये-लिये जमीन पर लोट गया और रोने लगा। तब उसने उठ कर आँखें पोंछी और श्रीशंकर से कहा—'बाबू! अब बच्चा अच्छा नहीं हो सकता। तक्षक राजा मर गया। कोई उल्टा मन्तर पढ़ रहा था कि तक्षक जहर न खीचे। दो मन्तर के बीच में पड़ कर तक्षक मर गया और बच्चा भी।'

लोहना दहाड़ मार कर रोने लगा। चुप हो कर उसने कहा—'पहले से इस पर ख्याल चला जाता तो मैं तच्छक को न मरने देता। बच्चा अच्छा हो जाता। लेकिन मैं छोड़ूँगा नहीं बाबू! जिसने उल्टा मन्तर पढ़ा है, उसका सिर आज ही कट जायगा. बाबू! तक्षक और बच्चे के खून का बदला लोहना लेगा।'

लोहना लड़खड़ाता हुआ एक ओर चला गया। श्रीशंकर मूर्छित हो कर गिर पड़े। गोकुल की माँ और बुआ के क्रन्दन से कलेजे फटने लगे। पड़ोसी उन्हें धैर्य देने लगे।....नारायण स्वामी सिर झुकाये बैठे रहे।

रात को आठ बजे के लगभग नारायण स्वामी ने श्रीशंकर के पड़ोसी से कहा—'जब तक बच्चा सामने रहेगा, शोक कम न होगा।'

पड़ोसियों ने श्रीशंकर को समझाया-बुझाया और एक आदमी ने गोकुल का शव उठाया, अन्य लोग साथ चले। उनमें श्रीशंकर भी थे, नारायण स्वामी भी।...स्त्रियों का करुण क्रन्दन बहुत दूर तक सुन पड़ता रहा।

गाँव के बाहर मैदान मे कुछ पेड़ों का झुरमुट-सा था। श्रीशंकर ने इसी में गोकुल को गाड़ने की इच्छा प्रकट की।

मिट्टी दे कर लोग लौटे। कुछ दूर आने पर स्वामीजी चुपचाप अपनी कुटी की ओर चले गये और लोग गाँव की ओर बढ़े।

एक ने कहा—'स्वामी जी को बहुत दु:ख हुआ है।'

दूसरा—'गोकुल को साँप काटने की बात सुनते ही चले आये।'

तीसरा—'बच्चों से विरक्तों को भी प्रेम होता है।'

चौथा—'बच्चों के अलावा किसी को स्वामी जी अपनी कुटी में नहीं जाने देते।

दूसरा—'गोकुल को बहुत मानते थे।'

पहला—'अहा! गोकुल जैसा तेज लड़का गाँव मे नहीं था। चाँद का टुकड़ा था।' चौथे ने पहले को चुप होने का संकेत किया।

:o: :o: :o: :o:

रात को दस बजे के कुछ बाद एक आदमी उस झुरमुट के पास आया, जिससे गोकुल गाड़ा गया था। उसने सब पेड़ों को अच्छी तरह देखा और तब एक पेड़ पर चढ़कर एक मोटी डाल पर, चुप-चाप बैठ गया। सब काले कपड़े पहने था।

एक घंटे बाद उसी झुरमुट की ओर किसी के आने की आहट लगी। पेड़ पर का आदमी सावधान हो कर बैठा था।

झुरमुट में कोई घुसा। कुछ देर खड़ा रह कर उसने दीप जलाया और उसे भूमि पर रख दिया। उसके क्षीण प्रकाश में पेड़ के आदमी ने नीचे नारायण स्वामी को खड़े देखा और उसने दाँत पर दाँत रख लिये।

नारायण स्वामी चले गये। कुछ देर बाद वे जल-भरा एक घड़ा ले कर लौटे। उन्होंने कुछ पढ़ कर चारों ओर जल छिड़का, घड़ा रखा और चले गये। कुछ और देर बाद वे एक बड़ा-सा झोला लिये आये। उन्होंने झोला रख कर चारों ओर देखा, घड़े से जल लेकर झोले पर छिड़का और तब उसमें से एक छोटी कुदारी निकाली।

उन्होंने कुदारी पर तथा गोकुल जहाँ गड़ा था, वहाँ पर जल छिड़का, झोले में से एक छोटा व्याघ्रचर्म का टुकड़ा निकाला और उस पर बैठ कर जप करने लगे। जप समाप्त कर उन्होंने खोदना आरम्भ किया। तुरन्त खुदो जमीन सहज में खुद गयी। मिट्टी एक ओर करके उन्होंने गोकुल का शव गढ़े से निकाला और अपने आसन के सामने रखा। फिर उन्होंने आसन पर बैठकर गोकुल को स्नान कराया, झोले में से इत्र की शीशी निकाल कर गोकुल के सर्वाङ्ग में लगाया, तिलक किया और लाल फूलों के गजरे पहनाये। तब उन्होंने अपने सामने एक और व्याघ्रचर्म का टुकड़ा बिछाया और उस पर गोकुल को लिटा दिया।

अब नारायण स्वामी बाँया हाँथ गोकुल के पैर पर रख कर जप करने लगे। जप समाप्त होने पर उन्होंने गोकुल का पैर कस कर पकड़ा और जल का छींटा उस पर दिया।

गोकुल ने अट्टहास किया और ऊपर को उछला, पर नारायण स्वामी ने उसे आसन से अलग न होने दिया। गोकुल बैठ गया। नारायण स्वामी ने उसका पैर छोड़ दिया। उन्होंने एक पुरवे में शराब भरकर सामने रखी और एक दोने में मांस।

गोकुल ने हाथ बढ़ाया—'दे, दे!'

नारायण स्वामी ने हँस कर कहा—'और तुम खा कर चल दो! क्यों?'

गोकुल ने वैसे ही कहा—'दे!!'

नारायण स्वामी बोले—तुम जैसा कोमल पाने के लिए ५५ वर्ष गाँव-गाँव घूमा हूँ। प्रारम्भ में मेरा मित्र भी मेरे साथ था। वह थक कर बैठ रहा, मूर्ख!

गोकुल ने कहा—'दे, दे!'

नारायण—'दूँगा, पहले मुझे वर दो। मैंने बहुत कष्ट उठाया है।'

गोकुल ने कहा—'क्या चाहता है?'

नारायण—'अमरत्व।'

गोकुल हि-हि-हि-हि कर के हँसा।

उसने कहा—'मृत्यु तेरे पीछे है।'

नारायण—'जानता हूँ। इसलिए अमरत्व चाहता हूँ। और उस का पूरा उपयोग तथा उपभोग करने के साधन भी।'

कोमल देर तक हँसा, वह हँसी बहुत पतली आवाज में चीख-सी थी। तब उससे कहा—'लोहना ने क्या कहा था, याद है?'

'क्या?'

'यही कि जिसने उल्टा मन्तर पढ़ा है, उसका सिर आज ही कट जायगा!'

'वह गधा है। उसके कहने से मेरा सिर कट जायगा!'

गोकुल फिर हँसने लगा। उसने कहा—'लोहना स्वयं एक सिद्धि के फेर में है। वह भी ६० वर्षों से घूम रहा है। वह केवल संपेरा नहीं है।'

नारायण स्वामी कुछ चंचल हुए, पर बोले—'होगा।'

गोकुल ने कहा—दे दें!

नारायण ने कहा—'दूँगा तुम मुझे सन्तुष्ट करो, मैं तुम्हें नैवेद्य दूँ।'

गोकुल ने कहा—'अमरत्व, हि-हि-हि-हि!'

नारायण ने कहा—'मुझे चिढ़ाने की चेष्टा व्यर्थ है।'

गोकुल ने कहा—अमरत्व तेरे पीछे मृत्यु है।'

नारायण—'कहते रहो। दो बजे के पहले पहल तुम्हें मुझे अमरत्व! देना ही होगा।'

गोकुल चीख जैसी हँसी हँसा। उसने कहा—'मृत्यु आ रही है। अमरत्व! दूसरे जन्म में साधना करना।'

नारायण ने उत्तर में आँखें बन्द कर जप आरम्भ किया।

गोकुल ने कहा—'अमरत्व! मृत्यु तेरे सिर पर है....हि-हि-हि!'

नारायण ने मन्त्रों के अर्थ पर ध्यान जमाया।

तभी नारायण स्वामी के पीछे एक आदमी आ कर खड़ा हुआ। दूसरे क्षण उसके दोनों हाथ उठे और तीसरे क्षण नारायण स्वामी का सिर कट कर एक ओर गिर पड़ा।

उस व्यक्ति ने खुखड़ी दूर फेंक दी, नारायण स्वामी का धड़ एक ओर लुढ़का दिया और रक्त से भरे उस के आसन पर बैठ गया।

गोकुल की चीख-सी हँसी चल रही थी।

उसके सामने के आसन पर बैठा व्यक्ति जप कर रहा था।

जप समाप्त हो कर उसने गोकुल से कहा—'मुझे वर दो।'

गोकुल का हँसना न रुका।

नये साधक ने कहा—'नारायण कहता था कि मैं थक कर बैठ गया। अब वह देखे कौन मूर्ख है !'

गोकुल ने हाथ बढ़ा कहा—'दे, दे !'

दूँगा। मैं छाया की तरह नारायण के पीछे घूमा हूँ। सोचा था सब काम वह करे, फल मैं लूँ। आज वह अवसर मिला।'

गोकुल ने कहा—'दे, दे !'

'दूगा।'

गोकुल ने हाथ बड़ा कर पुरवा उठा लिया।

नया साधक चिल्लाकर उठ खड़ा हुआ। उस का शरीर काँप रहा था। उसने काँपते स्वर में कहा—'तुमने पुरवा कैसे उठा लिया।

गोकुल देर तक हँसा। उसने कहा—एक साधक को मार कर दूसरा उसके स्थान पर बैठे तो उसका रक्त...।'

नया साधक चीख कर गिर पड़ा।

गोकुल ने कहा—'तूने उस का रक्त मुझे नहीं दिया, जप करने बैठ गया। तू तभी मर गया। इतने पर भी मैंने दो बार तुझसे माँगा। पर मृत्यु का तू क्या करे ? हि-हि-हि-हि...!'

नये साधक ने रो कर कहा—'दया...दया !'

गोकुल ने कहा—'दया (नारायण के धड़ की ओर संकेत कर)...इस पर अपनी दया देख !...दया ! अपने कुत्सित स्वार्थो के लिए हम लोगों को बन्दी बना कर रखना तुम्हारी दया ही है......है न !'

नया साधक हिचकियाँ ले कर रो रहा था।

गोकुल ने कहा—'तुम्हारे काम के लिए अष्ट प्रहर हम सन्नद्ध रहें,

दूसरों का धन उठा लावें। दूसरों की बहू-बेटियाँ उठा लावें, तुम जिसे कहो उसे मार डालें, तुम जो कहो करते रहें, यह सब तुम्हारी दया है !'

नया साधक ने चीख कर कहा—दया ! मुझ जैसे कीट को छोड़ दो।

गोकुल ने कहा—'चुप ! नारकी ! आदमी-आदमी को वश में नहीं कर सकता और तुम अपने से श्रेष्ठ और प्रबल आत्माओं को बन्दी बना कर कुत्सित कर्म कराना चाहते हो !'

नये साधक ने कहा—'अब जन्म भर परोपकार करूँगा ! दया ! दया !'

गोकुल ने कहा—'मैंने तेरी दया देखी, अब मेरी दया देख ?'

गोकुल नये साधक की ओर बढ़ा, नया साधक सिकुड़ कर आर्तनाद करने लगा। गोकुल ने उसके गले की ओर हाथ बढ़ाया। साधक ने गले पर हाथ रख लिये। गोकुल ने उसके हाथों पर अपना हाथ रखा। गरम लोहा जिस तरह मक्खन के पिंड में घुस जाता है, उसी तरह गोकुल का हाथ साधक के गले में उस पार तक घुस गया।

साधक ने एक लम्बा आर्तनाद किया, उसका शरीर कुछ क्षणों छटपटाया और तब निस्पन्द हो गया।

गोकुल की चीख जैसी हँसी हवा में गूँज उठी। वह अपने आसन पर आकर बैठ गया। उसने पुरवे की बची शराब पी और तब उसका शरीर लुढ़क गया।

कुछ देर बाद पेड़ से लोहना उतरा। उसने गोकुल के शव की ओर देखा और तब नारायण स्वामी का धड़ उठा कर उर पर उल्टा टाँग दिया। रक्त की कुछ बूँदे शव पर टपक पड़ी। एक लम्बी चीख-सी कहीं सुन पड़ी। लोहना ने साधक के कबंध का कुछ रक्त भी गोकुल के शव पर टपकाया। फिर चीख सुन पड़ी।

तब लोहना ने गोकुल का शव गढ़े में रखा, मिट्टी पाटी, उसे पैरों से पीट कर और उछल कर खूब धँसाया और तब नारायण स्वामी के मुँह पर थूक कर एक ओर चल दिया।

गोकुल की वही लम्बी चीख-सी हँसी चारों ओर की हवा को चीर रही थी !

मुख्य वितरक

हिन्दी प्रचारक पुस्तक

पो० बक्स न. ७०, ज्ञानवापी

वाराणसी–१

मूल्य : १ रुपया ७५ नये पैसे

मुद्रक–विद्यामन्दिर प्रेस (प्राइवेट) लि०, मानम

वाराणसी–१